मुद्रकः—
श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस,
चौमुखीपुल, रतलाम.

युगत्रये पूर्वमतीतपूर्वे,
जातास्तु जाता खलु धर्ममल्ला।
अयं चतुर्थो भवताच्चतुर्थे,
धात्रेति सृष्टोऽस्ति चतुर्थमल्लः॥

सहायकगण की शुभ नामावली



दिवाकर दिव्य ज्योति के नाम से स्व० श्री जैन दिवाकर प्रसिद्ध वक्ता पंडित रत्न मुनि श्री चौथमलजी महाराज के प्रभावशाली व्याख्यान सीरीज रूप में प्रकाशित कराने के लिए निम्नलिखित महानुभावों ने सहायता देकर अपूर्व लाभ लिया, इसके रुपये:—

१००१) श्री श्वे. स्था. जैन महावीर मण्डल, उदयपुर
५०१) श्रीमान् सेठ सिरेमलजी नन्दलालजी पितलिया सिहोर की छावनी
५००) श्रीमान् सेठ गुलराजजी पूनमचन्दजी मदनगंज
३००) ,, ,, चौथमलजी सुराणा नाथद्वारा
२५०) } ,, कुंवर मदनलालजी संचेती ब्यावर ब्यावर
,, सेठ जीवराजजी कोठारी नसीराबाद
२०१) ,, ,, साहबलालजी मेहता फर्म गुलाबचन्द भंवरलाल मेहता धानमन्डी उदयपुर
२००) ,, ,, शंभूमलजी गंगारामजी बंबई फर्म की तरफ से श्रीमान् सेठ केवलचन्दजी सा. चौपड़ा सोजतसीटी
१५१) ,, ,, चन्दनलालजी मरलेचा शुलाबजार बैंगलोर कैंट
१५१) ,, ,, गेंदालालजी मोतीलालजी सा. पोरवाड़ इन्दौर

१५१) श्रीमान् सेठ हजारीमलजी चम्पालालजी सगरावत
मु. निम्बाहेड़ा (राज.)
१५०) ,, ,, राजमलजी नन्दलालजी भुसावल
१५०) ,, ,, हस्तीमलजी जेठमलजी जोधपुर
१२१) ,, ,, कन्हैयालालजी कोटेचा की धर्मपत्नी सौभाग्यवती
सूरजबाई कोटेचा फर्म कन्हैयालाल चाँदमल
कोटेचा, बोदवड़ (पू. खा.)
१२५) ,, ,, जिनगर अमरचन्दजी इन्द्रमलजी गोतमचन्दजी
जैन गंगापुर
१२५) ,, ,, कस्तुरचन्दजी पुनमचन्दजी जैन गंगापुर
१२५) ,, ठेकेदार तोलारामजी भंवरलालजी उदयपुर
१२५) ,, ,, धनराजजी फतहलालजी उदयपुर
१२५) ,, ,, श्रीमती सोभाग्यवती तारादेवीबाई कोटेचा
फर्म श्रीमान सेठ मांगीलालजी केसरीचन्दजी
कोटेचा भुसावल (पू० खा०)
१०१) ,, ,, श्रीमान सेठ रंगलालजी झामड़ नांदूरावाले की
धर्मपत्नी श्रीमती सौभाग्यवती तुलसीबाई
नांदूरा (बरार)
१०१) श्रीमान जिनगर तेजमलजी रोशनलालजी गंगापुर (मेवाड़)
१०१) ,, पन्नालालजी बाफणा की पूज्य मातेश्वरी मोहनबाई
उदयपुर
१०१) श्रीमान सेठ मोतीचन्दजी रतनचन्दजी चोरड़िया
मु० कटंगी (बालाघाट)
१०१) ,, ,, गणेशलालजी भँवरलालजी पंसारी कोटा
१०१) ,, ,, अमोलकचन्दजी बोहरा फर्म
रखबचन्दजी लालचन्दजी जैन रामगंज मंडी
१०१, श्रीमान सेठ जसराजजी मोहनलालजी बोहरा,
मु० सोरापुर भंडार

१०१) श्रीमान् सेठ सूरजमलजी सा० बोथरा
फर्म कन्हैयालालजी इन्द्रमलजी जैन
मु० रामगंज मन्डी
१०१) सौ० पार्वतीबाई फर्म उत्तमचंद नवलचन्द एन्ड सन्स
वरडिया जलगांव (पू० खा०)
१०१) श्रीमान सेठ रतनलालजी गांग के सुपुत्र पोपटलालजी की
धर्मपत्नी श्रीमती शान्तिबाई मु० चींचखेड़ा ता.
जामनेर पो. फतहपुर (पू० खा०)
१०१) ,, ,, गणेशमलजी छत्तीसा बोहरा की धर्मपत्नी
श्रीमती सौ० पानबाई खामगांव
१०१) ,, ,, मगनीरामजी हणुमतमलजी झामड़ तर्फे
श्रीमान् उत्तमचन्दजी रतनलालजी झामड़
मु० खामगांव (बरार)
१०१) ,, ,, रामचन्द्रजी बोथरा अपने स्व० पूज्य पिताजी
सेठ घासीरामजी की स्मृति में तांदला बरार
१०१) ,, ,, धनराजजी हीरालालजी जैन खटोड़ मेड़सीवाला
मु० पो० अकोला (बरार)
१०१) ,, ,, रामानन्दजी मोतीलालजी जांगड़ा
धामणगांव वरोरा (म प्र)
२०१) ,, ,, मांगीलालजी चोरड़िया की धर्मपत्नी
श्रीमती राजीबाई वरोरा (म. प्र.)
१०१) ,, ,, भेरुलालजी अणतमलजी वरोरा (म. प्र.)
१०१) ,, ,, सागरमलजी राजमलजी बोहरा
चन्दनखेड़ा वाला वरोरा (म. प्र.)
१०१) ,, ,, गणेशमलजी गुलाबचंदजी गोठी वरोरा (म. प्र.)
१०१) ,, ,, मोहनलालजी मदनलालजी कोटेचा
अड़ेगांव वाला (वर्धा) बरार

१०१) श्रीमान् बालचन्दजी ताराचन्दजी कोटेचा मु० वणी (बरार)
१०१) „ चुन्नीलालजी के सुपुत्र स्व. पानमलजी चोरड़िया, की धर्मपत्नी श्री ताराबाई मु० वणी (बरार)
१०१) „ मुलतानमलजी बलवन्तरामजी खींचा मु० सावरगांव (बरार)
१००) „ प्राणलालजी सा. सांखला, उदयपुर
१२१) „ माणकचन्दजी छगनलालजी गोठी, जयपुर
१०१) „ जवाहरमलजी मुल्तानमलजी बम्ब, भुसावल
१०१) „ हीरालालजी मोतीलालजी धानेचा बोहरा खामगांव
१०१) „ मिश्रीमलजी पारसमलजी कातरेला, बैंगलोर सिटी
१०१) „ कन्हैयालालजी वच्छराजजी सुराणा, बागलकोट
१०१) „ नवरतनमलजी सिंघवी फूलियाकलां
१०१) „ मन्नालालजी भेरूलालजी पोरवाड़ राजाखेड़ी वाला मन्दसौर
१०१) „ लालचन्दजी मोतीलालजी ललवानी तोंडापुर (खानदेश) स्वर्गीय पिताजी प्रतापमलजी की स्मृति में
१०५) „ बसंतीलालजी सुन्दरलालजी जैन पिपलिया
१०१) „ देवराजजी जीतमलजी बीजापुर
१०१) „ जीवराज महता की धर्म पत्नी चन्द्रकलाबाई पूना
१०१) „ रतनचन्दजी सेसमलजी, बांदरा बम्बई
१०१) „ शम्भुमलजी माणकचन्दजी चोरड़िया मद्रास
१०१) „ कुन्दनमलजी पुखराजजी लूंकड़ बैंगलोर

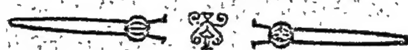


विषयानुक्रमणिका

१	सुखसदन सन्तोष	.... १
२	चतुर्था धर्म	.... २०
३	रात्रि भोजन	.... ४३
४	अनमोल मोती	.... ६४
५	अन्धकूप से बचो	.... ८६
६	संवेग	.... १०९
७	विचारों का वैभव	.... १३०
८	पुरुषार्थ की मर्यादा	.... १५४
९	बहुरंगा संसार	.... १८१
१०	धर्म-प्रसाद	.... २००
११	मक्खी नहीं, भ्रमर बनो	.... २२०
१२	दुर्लभ लाभ	.... २४३
१३	श्रद्धा-सामर्थ्य	.... २६२



सुखसदन सन्तोष



स्तुतिः—

कुन्ताग्रभिन्नगजशोणितवारिवाह-
वेगावतारतरणातुरयोधभीमे।
युद्धे जयं विजितदुर्जयजेयपक्षा-
स्त्वत्पादपंकजवनाश्रयिणो लभंते॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन्! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय? हे प्रभो! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ?

महाप्रभो! कोई सुभट युद्ध में गया हो युद्ध भी साधारण नहीं, अत्यन्त विकराल हो। उस संग्राम में हाथियों के मस्तक भालों से भेदे जा रहे हों और उनसे रुधिर की धाराएँ बह रही हों। योद्धा गण उन धाराओं को तैरने के लिए आतुर हो रहे हों।

भयंकर खून खच्चर हो रहा हो। बड़े-बड़े शूरवीर सुभट लड़ रहे हों। दुश्मनों का बड़ा जोर हो। मगर हे भगवन् ! जो आपके चरण-कमलों का आश्रय लेते हैं, उनकी विजयी अवश्यंभावी है। आपके नाम में ऐसा अनूठा प्रभाव है कि विकराल से विकराल युद्ध में भी आपके नाम से विजयी होता है।

ऐसे भगवान् ऋषभदेवजी हैं। उन्हीं को हमारा वार-वार नमस्कार है।

दो परस्पर विरोधी पक्षों का संघर्ष युद्ध कहलाता है। युद्ध का अनेक दृष्टियों से अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है। एक दृष्टि से युद्ध दो प्रकार का है-प्रतिकूल युद्ध और अनुकूल युद्ध। जिसमें हथियारों का प्रयोग किया जाता है, तलवारें, वंदूकें, तोपों, बम आदि शस्त्र-अस्त्र काम में लिये जाते हैं, वह प्रतिकूल युद्ध कहलाता है। अनुकूल युद्ध इससे भिन्न प्रकार का है और उसमें विजय प्राप्त करना अत्यन्त ही कठिन है अनुकूल युद्ध अपनी ही अन्तरात्मा के साथ लड़ा जाता है। उसमें अपने ही विकारों पर विजय प्राप्त करनी पड़ती है। आत्मा की स्वाभाविक शक्तियाँ एक पक्ष में होती है तो वैभाविक शक्तियाँ दूसरी ओर। यह अनुकूल युद्ध कहलाता है। हथियारों से लड़ा जाने वाला युद्ध वाह्ययुद्ध है तो विकारों से की जाने वाली लड़ाई आन्तरिक युद्ध है।

एक आदमी कहता है—इन महाराज में साधुता का कोई भी लक्षण तो नहीं है ! मूंड मुंडाकर आराम से पेट भरने का उपाय निकाल लिया है ! धर्म के नाम पर गुलछर्रे उड़ाते हैं। ढोंग फैला रक्खा है।' इत्यादि कहना प्रतिकूल युद्ध है। इसे जीत लेने वाले बहुत मिल सकते हैं, क्योंकि इसे जीत लेना अपेक्षाकृत सरल है।

दूसरा कहता है—'महाराज, आप बड़े भाग्यवान् हैं। आप धन्य हैं। आपने संसार के भोगोपभोगों का परित्याग करके बड़ी वीरता का परिचय दिया हैं।' इस प्रकार की आत्म प्रशंसा सुनकर जिसका मन मलीन नहीं होता, जो समाधि में मग्न रहता है, समभाव से विचलित नहीं होता, वह अनुकूल युद्ध में विजयी कहलाता है। इस युद्ध में विजयी होने वाले माई के लाल विरले ही होते हैं। गालियाँ सहन करने वाले मिल जाएँगे, मगर आत्म-प्रशंसा को समभाव से पचा लेने वाले मिलना कठिन है। इसीलिए कहा गया है—

शूरान्महाशूरतमोऽस्ति को वा,
मनोजबाणैर्व्यथितो न यस्तु।
प्राज्ञोऽतिधीरश्च समोऽस्ति को वा,
प्राप्तो न मोहं ललनाकटाक्षैः॥

काम का विकार आत्मा का प्रबल शत्रु है। वह अन्तरात्मा में ही छावनी डाल कर पड़ा हुआ है। लाखों शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने वाले शूरवीर योद्धा भी इस काम शत्रु के सामने नत-मस्तक हो जाते हैं। अतएव शूरवीरों में महान् शूरवीर वही है जो काम के बाणों से पीड़ित नहीं होता, जिसने अपनी काम-वासना को जीत लिया है। और सच पूछिए तो वही पुरुष बुद्धि-शाली है, धीर-वीर है और समभावी है जो रमणियों के कटाक्षों से मोह को प्राप्त नहीं होता। बाहरी बाणों के आघात को सहन कर लेना उतना कठिन नहीं है, मगर काम आदि प्रलोभनों को जीत लेना अतिशय कठिन है। जो इस कठिन विजय को प्राप्त कर लेते हैं, वे शूरवीर धन्य, मान्य, वन्दनीय और पूजनीय बन जाते हैं।

किसी कवि ने सत्य ही कहा है—

व्याकीर्णकेसरकरालमुखा मृगेन्द्राः,
नागाश्च भूरिमदराजिविराजमानाः ।
मेधाविनश्च पुरुषाः समरेषु शूराः,
स्त्रीसन्निधौ परमकापुरुषा भवन्ति ॥

यह कामवासना न केवल मनुष्यों में ही वरन् पशुओं, पक्षियों और यहाँ तक कि एकेन्द्रिय जीवों में भी विद्यमान है। सिंह बड़ा पराक्रमी होता है। देखते ही मनुष्य सुध बुध भूल जाता है। फैली हुई अयाल के कारण उसका मुख अत्यन्त विकराल दिखलाई देता है। मगर वह भी कामवासना का गुलाम है। विपुल मद की राजि से सुशोभित होने वाले गजराज, बड़े-बड़े मेधावी पण्डित और संग्राम भूमि में अद्भुत शूरता प्रदर्शित करने वाले योद्धा स्त्री के निकट ऐसे कायर बन जाते हैं, मानो पालतू कुत्ते हों।

यह है अनुकूल युद्ध की दुर्जयता। वास्तव में इस युद्ध में विजय प्राप्त करना महान् कठिन कार्य है। और सच पूछो तो यही विजय सच्ची विजय है। बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त करली तो क्या प्राप्त कर लिया ? एक शत्रु को जीता तो हजारों नये शत्रु बना लिये ! कदाचित् उससे जबर्दस्त दूसरा शत्रु चढ़ आया तो उसने विजय प्राप्त करके पहले प्राप्त की हुई विजय को पराजय के रूप में परिणत कर दिया ! दैवयोग से ऐसा न हुआ तो भी कब तक उस विजय का फल भोगा जा सकता है ? आखिर तो जीवन अनन्त नहीं है और उसका अन्त आये बिना नहीं रह सकता। जिस क्षण जिंदगी समाप्त हुई कि उसी समय विजय पर भी पानी फिर गया।

इस प्रकार की विजय क्षणिक है और सहस्रों विपत्तियों को उत्पन्न करती है। इससे आत्मा की तनिक भी उत्क्रान्ति नहीं होती। इसी कारण यह विजय सुलभ भी है। दुर्लभ है वह विजय जो अपने आप पर प्राप्त की जाती है। आत्मा के विकारों को जीतकर विजयी होना ही वास्तव में विजयी होना है। अनुकूल युद्ध की वह विजय स्थायी और कल्याणकर होती है।

भगवान् ने फर्माया है कि अनेक जीव इस युद्ध में अपने जीवन को हार गये हैं और हार रहे हैं और एक बार नहीं अनेकों बार हार रहे हैं। भगवान् फर्माते हैं—

समेमाणा पलेमाणा पुणो पुणो जाइं पकप्पंति।

श्रीमद् आचारांगसूत्र के चौथे अध्ययन के प्रथम उद्देशक में भगवान् ने कहा है कि—हे भव्यजीवो! सुनो। हे मोक्षार्थियो! हे आत्मा के सुख के अभिलाषी मनुष्यो! सुनो। मनुष्य कामभोगों में गृद्ध और आसक्त होकर कर्मों से लिप्त हो जाता है और उसका परिणाम यह होता है कि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय की योनियों में बार-बार जन्म मरण करना पड़ता है। चोरासी के चक्कर में घूमना पड़ता है।

भोग का रोग बड़ा व्यापक है। इसमें उड़ती चिड़िया भी फँस जाती है। अतएव भोग के रोग से बचने के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए और कभी चित्त को गृद्ध नहीं होने देना चाहिए।

संसार में दो शक्तियाँ हैं—भोग और योग। भोग प्रेय की ओर आकर्षित करता है और योग श्रेय की ओर। इस प्रकार जीव तो एक है और उसे खींचने वाली दो परस्पर विरोधी शक्तियाँ हैं। एक पूर्व की ओर खींचती है तो दूसरी पश्चिम की ओर।

इस खींचतान में आत्मा की विभिन्न शक्तियाँ काम करती हैं। मन चाहता है कि ऐश-आराम किया जाय। इन्द्रियाँ भी विषय चाहती हैं। किन्तु बुद्धि चाहती है तपस्या करना। इन दोनों पक्षों की लड़ाई में जीव हार-हार कर चले गये हैं और चले जा रहे हैं। क्योंकि भोग तो अनादिकाल से मिल रहा है और वह जीव के लिए परिचित है। धर्म नयी चीज़ है। अतएव धर्म की ओर सहसा झुकाव नहीं होता। उसका अभ्यास होते देर लगती है। यही कारण है कि यह जीव दौड़-दौड़ कर भोगों की ओर जाता है और पुनः पुनः प्रेरणा करने पर भी धर्म की ओर अग्रसर नहीं होता।

भोग ने बड़ा ही जबर्दस्त जाल बिछा रक्खा है। उसने कइयों की ऐसी मति खराब की कि उन्होंने भोग से ही मोक्ष बतला दिया है। संसार में अनेक पंथ हैं और वे सब यह दावा करते हैं कि उन्होंने मोक्ष का मार्ग बतलाया है। पर कहीं श्रोत्र इन्द्रिय के भोग तैयार हैं तो कहीं चक्षु इन्द्रिय के भोग तैयार हैं कहीं रसना घ्राण इन्द्रिय का भोग है तो कहीं शरीर का ही भोग विहित है। इस प्रकार भोग ने योग का भी स्थान ले लेने का प्रयास किया है। इससे स्पष्ट है कि भोग का क्षेत्र संसार में बहुत व्यापक है। बड़े-बड़े योगी कहे जाने वाले और योग के नाम पर पुजने वाले भी भोग की कीचड़ में फँसे हैं।

जो लोग भोग भोगते हुए भोगी कहलाते हैं और अपने आपको भोगी मानते हैं, उनका कदाचित निस्तार हो सकता है, परन्तु जो भोगी होते हुए भी अपने आपको योगी प्रकट करते हैं और अपने भोग भोगने को भी योग साधन कहते हैं, उनका निस्तार किस प्रकार होगा?

विचार कर देखो तो पता चलेगा कि इन्द्रिय भोगों से कदापि तृप्ति नहीं हो सकती। ज्यों-ज्यों भोग भोगे जाते हैं, त्यों-त्यों भोगाभिलाषा बढ़ती ही जाती है। ऐसी स्थिति में तृप्ति के लिए अवकाश ही कहाँ है? इसी कारण ज्ञानी पुरुष कहते हैं-अरे जीव! देख, तेरी बुद्धि किधर चली गई है? तू किस भ्रम में फँस गया है? किसने तुझे उल्टी राह पकड़ा दी है? तू बिना सोचे-समझे तेजी से भागा जा रहा है, और ज्यों-ज्यों भागा जा रहा है, त्यों-त्यों अपने लक्ष्य से दूर और दूरतर होता चला जा रहा है। अपने मंजिल से चूकता ही जा रहा है। और तू आँख मींच मींच कर सरपट चला जा रहा है। थोड़ी देर के लिए रुक और समझने की कोशिश कर कि जहाँ तुझे जाना है, वहाँ जाने का यह मार्ग नहीं है। यह तो उससे विपरीत दिशा में ले जाने की राह है। तू समझदार है तो मुड़ जा और सीधी दिशा में ही चल। सही मार्ग पर चार कदम चलेगा तो भी गनीमत है। उससे भी तेरा हित होगा। मंजिल कुछ तो पास आएगी। अगर विपरीत दिशा में तेजी से भी दौड़ेगा तो क्या परिणाम होगा? अधिक लक्ष्यभ्रष्ट हो जाएगा। इसलिए हे भद्र! तू चलने से पहले सावधान हो कर विचार करले। अपना लक्ष्य समझले और उस तक पहुँचने का मार्ग निर्णीत कर ले। फिर जैसी तेरी शक्ति हो, उसके अनुसार चल। शक्ति से अधिक नहीं तो कम भी मत चल। अपनी शक्ति का उपगूहन मत कर। जो शक्ति तेरी अन्तरात्मा में विद्यमान है, उसका उपयोग न करना शक्ति का अपमान करना है। मगर याद रख, सबसे पहले लक्ष्य और मार्ग का निश्चय कर ले। यह न किया तो सब व्यर्थ है! किसी ने कहा है—

नरः प्राप्योत्तमं जन्म, लब्ध्वा चेन्द्रियसौष्ठवम्।
न वेत्त्यात्महितं यस्तु, स भवेद् ब्रह्मघातकः॥

देखो, पुराण क्या कहता है ? हे मनुष्यो ! तुम्हें ऊँचे नंबर का मनुष्य जन्म मिल गया। इससे उत्तम जन्म अन्य नहीं है। इसके साथ ही पूरी इन्द्रियाँ मिल गई और वे सब पटु मिलीं। सारी सामग्री मिल गई है। मगर इस सामग्री का उपयोग कहाँ हो रहा है।

किसी आदमी को दस हजार रुपये मिल गये। अब उन्हें कहाँ खर्चना चाहिए ? दो रास्ते हैं। उन्हें खर्च करके पाप कर्मों का बंध भी कर सकता है और परोपकार करके पुण्य का उपार्जन भी कर सकता है। ममता का त्याग कर दे तो पाप का निरोध भी हो सकता है और धर्म भी हो सकता है। उनमें से एक हजार रुपया जीवों को घात करने के लिए दे देता है तो पापकर्म बाँधता है और यदि जीवदया के निमित्त खर्च करता है तो धर्म कमा लेता है। इस प्रकार प्राप्त लक्ष्मी से पाप का भी उपार्जन हो सकता है और पुण्य का भी।

इसी प्रकार यह पाँच इन्द्रियाँ तुझे मिली हैं। जानता है, इनमें से एक-एक इन्द्रिय की कितनी कितनी कीमत है ? तुम कितने रुपयों में अपनी दोनों आँखें बेच सकते हो ? हजारों और लाखों में भी नहीं बेच सकोगे। तो समझ लो कि इन आँखों का मूल्य हजारों-लाखों से भी ज्यादा है। सभी इन्द्रियाँ ऐसी ही कीमती हैं। परन्तु इन्हें पाकर तुम क्या कर रहे हो ? इनका सदुपयोग कर रहे हो या दुरुपयोग ? इनसे पाप कमा रहे हो या पुण्य का उपार्जन कर रहे हो ? अगर श्रोत्रेन्द्रिय से भगवान् का गुणस्तव नहीं सुनते, चक्षु से संत पुरुषों का दर्शन नहीं करते, रसना से प्रभु का गुणगान नहीं करते और शरीर से गुणी जनों को नमस्कार आदि धर्मकृत्य नहीं करते तो तुम किस श्रेणी में हो ? हजारों-लाखों की सम्पत्ति पाकर उसे पाप में खर्च कर देने वाले में और तुममें कितना अन्तर है ?

पुराणकार कहते हैं—प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग करने वाले को ब्रह्मघातक समझना चाहिए। ब्रह्म का अर्थ है आत्मा। वह पुरुष वास्तव में आत्मघातक है, क्यों कि अपने पापों की वृद्धि करके वह आत्मा का अहित करता है।

इसी दुर्बुद्धि के कारण आत्मा का आवागमन बढ़ता चला जाता है। सोचना चाहिए कि आखिर भोग से जब तृप्ति होती ही नहीं तो उसे भोगने से लाभ ही क्या है?

कभी भोगों से इस दिल को, सब्र हर्गिज़ नहीं आता।
चाहे हो बादशाह क्यों नहीं, सब्र हर्गिज़ नहीं आता॥

भोग का स्वभाव ही अतृप्ति--असन्तोष बढ़ाना है। अतएव उससे सब्र कैसे आ सकता है? कोई सोचे कि मैं जब सम्राट या बादशाह बन जाऊँगा तो खूब भोग-भोग कर तृप्ति संपादित कर लूँगा, किन्तु अरे भोले जीव! बादशाह के दिल से तो पूछ देख कि उसका क्या हाल है? उसे सन्तुष्टि मिल सकी है या नहीं?

चाहे हो महल रत्नों का, सजी हो सेज फूलों की।
मिले अप्सरा अजब सुन्दर, सब्र हर्गिज़ नहीं आता॥

इस जीव को सुन्दर महल मिल जाय, जिसका फर्श हीरों और पन्नों से जड़ा हो, अप्सरा सरीखी रमणी प्राप्त हो जाय और अन्य प्रकार की सुख सामग्री भी सब मिल जाय, तब भी इसको सन्तोष मिलता। रावण के अन्तःपुर में अठारह हजार रानियाँ थीं और सोने की लंका थी। जब लंका सोने की थी तो उसके रहने का महल कितना सुन्दर, मूल्यवान और देवभवन के समान न होगा? तब भी उसे सन्तोष न हुआ। उसके हृदय में

सीता के प्रति लालसा जागी और धोखे से हरण करके ले गया ! और—

हो के चक्रवर्ती राजा, रखा सरताज भारत का ।
चले है हुक्म लाखों पर, सब्र हर्गिज़ नहीं आता ॥

पूछो लोगों को पहले तुम्हारे पास कितना पैसा था और तुम्हारी क्या हालत थी ? अब कितना गुना पैसा है ? मगर संतोष नहीं । चोर बाजार अब भी तैयार है । कोई भी अनीति और अत्याचार करने से परहेज नहीं । यह मालूम ही नहीं कि उसका फल कितना कटुक भुगतना पड़ेगा ।

सुभूम चक्रवर्ती था । चक्रवर्ती से बढ़ कर ऐश्वर्य किसी के पास नहीं होता । वह छह खंड का अधीश्वर था । मगर इतने पर भी सब्र न आया तो हजरत चले सातवें खंड पर विजय प्राप्त करने के लिए । परिणाम क्या हुआ ?

पहले तो ठूंस-ठूंस कर खाया और फिर किसी ने मनवार की तो गर्म-गर्म गुलाब जामुन फिर गटक गये । अब सवेरे खट्टी डकारें आने लगीं और अजीर्ण हो गया तो हाय-हाय करने लगे । मगर ऐसा पहले किया ही क्यों ? पहले जरा सब्र से काम लिया होता तो क्यों ऐसी दशा होती ?

एक चौबेजी किसी के यहाँ जीमने गये । उन्होंने इतना खाया कि गले तक ठूंस लिया । जीम चुके तो झुककर चुल्लू भी नहीं कर सके । ऊँचा मुँह किये-किये किसी प्रकार चुल्लू किया । जाने लगे तो जूतों की तरफ देख न सके । देखने के लिए झुकना आवश्यक था, मगर झुक वे सकते नहीं थे । अतएव एक पैर किसी जूते में तो दूसरा पैर किसी जूते में जाने लगा । किसी ने कहा

कहिए चौवेजी, क्या हाल हैं ? जूते भी नज़र नहीं आते क्या ? तब मस्ती में चौवेजी बोले-साले जूते क्या नज़र नहीं आते, तू भी नजर नहीं आता।

सजी पोशाक लगा अंतर, बैठ कुर्सी पर सुन्दर संग।
गले हो हार मोत्यों का, सब्र हर्गिज़ नहीं आता॥

बढ़िया से बढ़िया पोशाक शरीर पर सजी हुई है, खुद के भी और मेम साहिबा के भी। इत्र लगा कर दोनों आराम से बैठे हैं। गले में मोतियों के हार सुशोभित हो रहे हैं। फिर भी सब्र कहाँ ?

इतना योग मिलने पर भी जीव को संतोष नहीं आता। बस यही भावना बनी रहती है कि और मिले तो अच्छा। यह भोग-रोग अप्रतीकार्य है।

चाहे गुलशन कर लो बहार, अजब घर की हवा खालो।
सवारी रेल मोटर की, सब्र हर्गिज़ नहीं आता॥

बड़े-बड़े सुरम्य उद्यान हैं। उनमें भाँति-भाँति के फूल खिले हुए हैं। ऐसे उद्यानों की हवा खाली। रेल, मोटर और हवाई जहाज की सवारी भी तैयार है। किसी चीज की कमी नहीं है। तो भी भील-भीलनी रास्ते में आरहे थे और भीलनी के पैरों की झालरें बज रही थीं, सो उन्हें देखने के लिए छज्जे में आया और अचानक ही सड़क पर धड़ाम से गिर पड़ा।

लोग कहने लगे—क्या सेठजी झालर देखने आये थे ? आपके यहाँ किसी तरह की कमी है ? पर इसका असली उत्तर तो यही है कि सेठजी के दिल में सब्र नहीं है। सब्र होती तो यह दशा क्यों होती ?

सर्पाः पिबन्ति पवनं न च दुर्बलास्ते,
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवन्ति ।
रूक्षाशनेन मुनयः क्षपयन्ति कालं,
सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम् ॥

देखो, साँप हवा का पान करते हैं, फिर भी दुर्बल नहीं होते। जंगली हाथियों को बादाम का हलुवा कोई नहीं खिलाता। वे रूखे-सूखे तिनके खाते हैं, फिर भी कितने बलशाली होते हैं? मुनिजन संयमयात्रा का निर्वाह करने के लिए ही रूखा-नीरस भोजन करके काल यापन करते हैं। इसका कारण क्या है? असली बात यह है कि वे सन्तोष धारण करते हैं और संतोष के प्रभाव से उनका काम चल जाता है। सन्तोष ही मनुष्य के लिए बड़े से बड़ा खजाना है।

जिसके हृदय में सन्तोष है, वह प्रत्येक अवस्था में सुखी रह सकता है। लाखों और हजारों की सम्पत्ति न होने पर भी संतोषी मनुष्य जिस सुख के साथ अपना जीवन व्यतीत करता है, वह सुख करोड़पति असंतोषी को भी प्राप्त नहीं हो सकता। कहा भी है-

अकिञ्चनस्य दान्तस्य, शान्तस्य समचेतसः ।
सदा सन्तुष्टमनसः, सर्वाः सुखमया दिशः ॥

जिसके हृदय में सन्तोष का वास है, उसके लिए सारा संसार सुखमय है। भले ही उसके पास कुछ भी नहीं है, मगर जिसने अपनी इन्द्रियों पर काबू पा लिया है, जिसका चित्त शान्त है, समभाव से युक्त है और जो सदैव सन्तोष के सुरम्य उपवन में रमण करता रहता है, उसे सुख के सिवाय दुःख होता ही नहीं है।

भाइयो! ऐसा समझ कर सब्र धारण करो, सन्तोष को अपनाओ। सुख चाहते हो परन्तु धन-दौलत से वह मिलने वाला नहीं, भोग और उपभोग में सुख की खोज करने का प्रयास मूर्खता-पूर्ण ही सिद्ध होगा। सुख संतोष में ही है। सन्तोष रक्खोगे तो निश्चय ही सुख प्राप्त कर सकोगे। परन्तु यह समझ लेना चाहिए कि सन्तोष कहाँ करना चाहिए और कहाँ नहीं? कहा है—

> सन्तोषस्त्रिषु कर्त्तव्यः स्वादाने भोजने धने।
> त्रिषु चैव न कर्त्तव्यो, दाने तपसि पाठने॥

तीन बातें ऐसी हैं जिनमें सब्र करना ही उचित है—किसी वस्तु का ग्रहण करने में, भोजन में और धन के विषय में। मगर तीन बातें ऐसी भी हैं जिनमें सन्तोष धारण करना उचित नहीं—दान देने में, तपस्या करने में और पठन-पाठन में। दान, तप और अध्ययन करते समय असन्तोष शील होना चाहिए। जितना दिया है, उसे कम समझ कर अधिक देने की इच्छा रखनी चाहिए। की हुई तपस्या को पर्याप्त न समझ कर और ज्यादा करने की भावना होनी चाहिए। इसी प्रकार पठन-पाठन में भी संतोष न करके अधिक अध्ययन करने की अभिलाषा रखनी चाहिए। क्यों कि ज्ञान का सागर अथाह है। उसमें जितना ज्यादा अवगाहन करोगे, उतना ही अधिक आनन्द प्राप्त होगा।

इस प्रकार पुण्योदय से जो भी सामग्री तुम्हें मिली है, उसमें अगर सन्तोष धारण करोगे तो उसी से बहुत कुछ सुख प्राप्त हो सकेगा। निश्चय मानो कि सुख की कुंजी सन्तोष है, सम्पत्ति नहीं। अतएव दूसरे की चुपड़ी देख कर ईर्षा मत करो। अपनी रूखी को बुरा मत समझो और दूसरों की नकल मत करो। जो दूसरों की देखा देखी करता है, वह सुथार की तरह दुःख पाता है।

एक सेठ के यहाँ हवेली का काम चल रहा था। एक दिन सेठजी दोपहर के समय घर पर आये। उन्होंने अपनी पत्नी से जल माँगा। सेठानी चांदी के लोटे में जल और पीने के लिए चांदी का गिलास लेकर और लोटे को एक श्वेत स्वच्छ वस्त्र से ढँक कर ले आई। सेठजी ने आराम से कुर्सी पर बैठकर जल पिया। जब पानी पी चुके तो उन्हें उपहास सूझा। थोड़ा-सा पानी मुँह में भर कर अपनी पत्नी की तरफ फुर्र करके उछाल दिया पानी सेठानी पर पड़ा।

मगर सेठानी ने गुस्सा नहीं किया। उसके चेहरे पर धीमी मुस्किराहट आई और वह प्रेम के साथ भीतर चली गई। वह जानती थी कि अगर ओढ़नी खराब भी होगी तो उसकी चिन्ता सेठजी को ही होगी। यह उनका काम है। मैं क्यों नाराज होऊँ?

यह सारा दृश्य हवेली में काम करने वाला सुथार देख रहा था। उसने सोचा-सेठ सेठानी कैसा विनोद करके सुख में रहते हैं? इस विनोद में तो पैसा भी खर्च नहीं होता। मैं भी घर जाकर ऐसा ही करूँगा।

दो बजे छुट्टी हुई तो वह सीधा घर गया। उसके यहाँ कुर्सी नहीं थी, अतएव वह चूल्हे पर जाकर बैठ गया। बैठकर अकड़ के साथ बोला-मेरे लिए पानी का लोटा लाओ। गिलास भी लाना। देखना, पानी का लोटा कपड़े से ढँका होना चाहिए।

सुथार का आज रंग-ढंग कुछ अनोखा था। वह सोचने लगी-आज बात क्या है? चूल्हे पर जाकर बैठे हैं और इस प्रकार बोल रहे हैं! मगर वह स्त्री पानी का लोटा हमेशा की भांति ले आई। तब सुथार ने कहा-कहा था न कि गिलास भी लाना। सुना नहीं क्या? गिलास लाओ।

स्त्री बोली—घर में गिलास तो है नहीं, मिट्टी का सिकोरा है। कहो तो ले आऊँ।

सुथार—अच्छा वही ले आओ।

स्त्री—और गलना भी कहाँ है?

सुथार—लुगड़े के टुकड़े से ही ढँक लो।

स्त्री सुथार के कथनानुसार पुनः पानी लाई और सिकोरे में भर-भर कर पिलाने लगी। पानी पीने के पश्चात सुथार ने सेठजी की तरह मुँह में पानी भर कर सुथारिन पर फुर्र कर दिया।

सुथार का फुर्र करना था कि सुथारिन की त्यौरियाँ चढ़ गई। गुस्से में आकर उसने कहा-क्या आँखें फूट गई हैं? दीखता नहीं कि इतनी लम्बी-चौड़ी मैं खड़ी हूँ! जूठे पानी से सारे कपड़े भर दिये। इतना कह कर ही वह शान्त नहीं हुई। पास में पड़ा एक डंडा उसके हाथ आ गया और उसने दो-तीन सुथार की पीठ पर दे मारे।

अरे भोले! जब तूने पुण्य नहीं कमाया है तो क्यों नये अडंगे खड़े करता है?

हाँ, तो काम पर जाने का समय हो गया, फिर भी वह सेठ की हवेली नहीं गया। शाम के समय सेठ ने न आने कारण पूछा तो सुथार बोला-सेठजी, मैं अब नहीं आऊँगा।

सेठ—क्यों?

सुथार—मैं डंडे की मार खा चुका हूं।

सेठ—मार पड़ने का कारण?

सुथार—यह सब आपके ही सिखाये लक्खन हैं। आज मैंने भी आपकी तरह पानी पिया और फुर्र किया तो डंडे की मार खानी पड़ी।

सेठ ने कहा—मूर्ख, देखादेखी घर में नये अडंगे मत किया कर। जो घर में है, उसी में सन्तोष धारण कर।

मगर भाइयो! सन्तोष आना बहुत कठिन है!

कहा है—

दूल्हा दुल्हिन संग मिला कर दस्त आपस में।
घूमे कल्पवृक्ष की छाया, सब्र हर्गिज नहीं आता॥

ओह! इस जीव को कभी सब्र आता है! यह कब सोचता है कि जो मिल गया सो गनीमत है। वही मेरे लिए पर्याप्त है। उसमें सन्तोष धारण करूंगा तो उसी से सुख मिल जाएगा। नहीं, ऐसा सीधा विचार जीव को नहीं आता। उसे जो कुछ प्राप्त है, उसकी तो इसकी निगाह में कोई गिनती ही नहीं है। जो प्राप्त नहीं है, उसके लिए पागल हुआ जा रहा है। मगर ऐसे असन्तोषी जीवों की गति वैसी ही होती है जैसी कि उस सुथार की हुई थी।

कितनी ही बार यह जीव भोगभूमि में जुगलिया के रूप में जन्मा। जुगलियों के सुख यहाँ के राजा और चक्रवर्ती से भी उत्तम होते हैं। युगलिया बड़े ही सुन्दर होते हैं और उनकी स्त्री भी अत्यन्त रूपवती होती हैं। पहले, दूसरे और तीसरे आरे में यहाँ भी जुगलिया थे। अवसर्पिणी काल होने से पहले की अपेक्षा दूसरे में और दूसरे की अपेक्षा तीसरे आरे में जुगलियों के सुख कम होते गये। फिर कर्मभूमि आ गई। इस प्रकार आज जो मनुष्य दिखलाई देते हैं, सब जुगलियों की ही सन्तान हैं। उस

उस समय किसी प्रकार का जातिभेद नहीं था और न वर्णव्यवस्था थी। न कोई चमार था, न ब्राह्मण था, न क्षत्रिय था, न वैश्य था। सब जुगलिया थे। मनुष्य जाति एक और अखंड थी। यह जीव जुगलिया के रूप में भी उत्पन्न हुआ और वहाँ का परम सुख भोगा। कल्पवृक्षों की सुखद छाया में पत्नी के साथ अपूर्व आमोद-प्रमोद किया। एक बार नहीं, अनेक बार इस आनन्द का उपभोग किया। फिर भी संतोष नहीं आया ?

जुगलियों को कितना और कैसा सुख होता है, यह जानने के लिए जीवाभिगम और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र का अध्ययन करना चाहिए। यहाँ तो सिर्फ यही बतलाना है कि ऐसे उत्तम सुखों का उपभोग करने पर भी इस जीव की सुखाभिलाषा पूर्ण नहीं हुई। असन्तोष की आग ज्यों की त्यों जल रही है। आज भी यह जीव भोगोपभोग भोगने के लिए उसी प्रकार लालायित है।

त्रिखंडीनाथ भी कहला, हो मंडल का अधिकारी।
स्वर्ग के भोग भी भोगे, सब्र हर्गिज नहीं आता ॥

हे आत्मन् ! तुझे कृष्णजी की तरह तीन खंड का राज्य भी मिल जाय, तू माण्डलिक राजा भी हो जाय यहाँ तक कि स्वर्ग के भोगोपभोग भी प्राप्त हो जाएँ तो भी तुझे सब्र नहीं है। जब संसार के सर्वोत्कृष्ट भोगों से भी तुझे सन्तोष नहीं होता तो फिर ऐसे भोग भोगने से क्या लाभ है ? अन्ततः संतोष किये बिना तेरा कदापि निस्तार नहीं होने वाला है। आजकल के भोग तो हैं ही किस गिनती में, मगर जब उत्तम से उत्तम भोग भोगे, तब भी सन्तोष नहीं हुआ।

चौथमल कहे भोगों से, गया नहीं तृप्त हो कोई।
निजातम-ज्ञान के प्यारो, सब्र हर्गिज नहीं आता ॥

जिंदगी भर भोगों के कीचड़ में लिप्त रहा और जब मरने लगा तो सोचा-हाय, कुछ दिन और जीवित रहता तो थोड़े-से भोग और भोग लेता। मन की मन में रह गई। इस प्रकार भोगों से कोई तृप्त होकर नहीं गया।

एक कवि ने ठीक ही कहा है—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः।

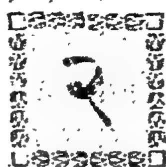
लोग समझते हैं कि हमने भोग भोगे हैं, लेकिन वास्तविक बात तो यह है कि भोग ही मनुष्य को भोग लेते हैं।

अरे जीव! दुनिया के भोग तो दुनिया में ही रहेंगे। इन भोगों को भोगने वाला ही दुनिया से उठ कर चला जायगा। जब कोई आदमी एँठ कर कहता है-हम जीमने नहीं आएँगे, तो दूसरे उत्तर देते हैं कि तेरे हिस्से के लड्डू पड़े नहीं रहेंगे! इसी प्रकार तू ईश्वर का नाम नहीं लेगा तो क्या हुआ, ईश्वर का नाम लेने वाले बहुत हैं। उनकी कमी नहीं है। तू ईश्वर का नाम नहीं लेगा तो रो-रो कर मरेगा। भोगों से तेरा कल्याण नहीं होगा। कल्याण होगा तो भगवान् का भजन करने से ही होगा।

बड़ा तो बड़ा ने धरणी गल गई,
गल गया हिन्दू मुसलमान।
अमर कोई नहीं छे, अमर कोई न छे जी,
हो काची काया ना सरदार,
अमर कोई न छे जी॥

भारतवर्ष में पृथ्वीराज चौहान और जयचन्द राठौड़ जैसे राजा भी पिछले दिनों में हुए। उनके साम्राज्य के सामने जयपुर जोधपुर किसी गिनती में नहीं थे। जयचंद राठौर का राज्य अफगानिस्तान तक फैला हुआ था। मगर भोग के कीचड़ में फँस जाने के कारण उन्हें बर्बाद होना पड़ा। इतिहास पर दृष्टि डालने से विदित होता है कि असंख्य साम्राज्य भोगों की आग में भस्म हो चुके हैं। अतएव जो जीव सुख चाहते हैं उन्हें भोगों के गरल से दूर रह कर संतोष का अमृत पीना चाहिए। जो सन्तोषामृत का पान करेंगे, वे इस भव में भी और परभव में भी सुख के पात्र बनेंगे।

ब्यावर }
२६-१०-४७ }



चतुर्थ धर्म



स्तुतिः—

अम्भोनिधौ क्षुभितभीषणनक्रचक्र—
पाठीनपीठभयदोल्वणवाडवाग्नौ।
रंगत्तरंगशिखरस्थितयानपात्रा—
स्त्रासं विहाय भवतः स्मरणाद्व्रजन्ति ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन्! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय? हे प्रभो! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ?

महाप्रभो! कोई पुरुष रत्नाकर-समुद्र की यात्रा करने के लिए निकला वह जहाज में बैठा और जहाज रवाना हुआ। समुद्र पानी का निधान है। बड़ा गहरा और विशाल इतना कि उसकी सीमा ही दृष्टिगोचर नहीं होती। आंधी एवं तूफान के कारण

उसमें क्षोभ उत्पन्न हो गया है। पहाड़ सरीखी ऊँची-ऊँची लहरें उठ रही हैं। दूर से देखने वालों के भी प्राण काँपते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि अपनी उत्ताल तरंगों के बहाने वह ऊपर जाकर स्वर्ग लोक को उदरस्थ करने की तैयारी कर रहा है। इन ऊँची-ऊँची तरंगों के कारण ही नहीं, वरन् पाठीन पीठ नामक मगरमच्छों के कारण भी, जो बड़े जबर्दस्त हैं, वह भयानक रूप धारण किये हैं। तिस पर वड़वानल अलग ही अपनी अतीव भीषणता दिखला रहा है। इसके कारण समुद्र ऐसा मालूम होता है जैसे कोई बड़ी कढ़ाई हो और नीचे प्रज्वलित होने वाली तीव्र ज्वालाओं के कारण कढ़ाई का तेल उबल रहा हो! मगर इतने से भी गनीमत नहीं है। उस समुद्र में बहुत बड़े-बड़े भँवर पड़ रहे हैं। चक्कर खाता हुआ गोलाकार जल मानों इस समग्र गोलाकार पृथ्वी को निगल जाने का अभ्यास कर रहा है। भँवर के बीचो-बीच पानी नीचे चला जाता है। उसे देख कर कल्पना होती है कि वह पाताल लोक को भी सुरक्षित नहीं रहने देना चाहता और उसे भी अपने असीम उदर में डाल लेना चाहता है। इस प्रकार अपनी ऊँची-ऊँची लहरों से ऊर्ध्वलोक में, भँवरों के बहाने पाताललोक में और गोल--गोल चक्करों के ब्याज से मध्यलोक में प्रलय मचाने की तैयारी करता हुआ सागर विकराल दैत्य से भी अधिक रौद्र रूप धारण किये हुए है।

समुद्रयात्री का जहाज चल पड़ा है। वह समुद्र के बीचों-बीच जा पहुंचा है। वापिस लौटने में भी मौत का भय है और आगे चलना भी काल के गाल में समा जाने के समान है। चारों ओर मृत्यु की कलेजे को कम्पायमान कर देने वाली विकराल क्रीड़ा हो रही है। असीम बुद्धि कौशल का धनी होने पर भी मनुष्य असहाय हो गया है। मस्तिष्क काम नहीं करता। साहस

करने से ही कुछ बनने की सूरत नजर नहीं आती। यात्री सब प्रकार से निराश हो गया है और मौत की दर्दनाक दानवी सामने खड़ी अट्टहास कर रही है। इससे बढ़कर विकराल परिस्थिति और क्या हो सकती है!

मानवजाति अपनी बुद्धि का बड़ा अहंकार करती है। उसका खयाल है कि हमने अपने ज्ञान-विज्ञान के प्रभाव से प्रकृति को पराजित कर दिया है, दासी बना लिया है। मनुष्य मदारी है और प्रकृति बंदरी है, जिस पर अधिकार करके मैं उसे मनचाहा नाच नचा रहा हूँ! मगर वास्तव में मनुष्य भूल रहा है। प्रकृति की अचिन्त्य शक्ति के सामने वह नगण्य है और नगण्य ही रहने वाला है। प्रकृति के समक्ष मनुष्य वैसा ही है जैसा किसी सहृदय माता के सामने नटखट बालक हो! ऐसा बालक अनेक प्रकार के उत्पात करता है, माता को परेशान करता है और कभी-कभी समझता है कि मैंने अपनी चतुराई से माता को भी चकमा दे दिया! माता अपनी सहृदयता के कारण उसके सब उत्पातों को सहन कर लेती है। जब बच्चे का ऊधम असह्य हो जाता है तो गाल पर एक चपत जमा देती है और कान पकड़ कर खींच देती है। तब उसे माता की शक्ति का पता चलता है।

मनुष्य और प्रकृति का भी ऐसा ही संबंध है। मनुष्य विज्ञान के कारण उत्पात मचाता है, गड़बड़ करता है और प्रकृति उसे उदारतावश सहन करती रहती है। मगर जब उसका उत्पात सीमा से बाहर चला जाता है तो वह अपना प्रकोप प्रकट करती है। उस प्रकोप के सामने यह मानव-बालक असहाय हो जाता है और तभी उसकी वास्तविक सामर्थ्य को समझ पाता है। कुछ कुछ सैकिंडों के लिए भी पृथ्वी काँप उठती है तो मनुष्य का सारा ज्ञान विज्ञान एक किनारे रक्खा रह जाता है! बुद्धि वैभव

व्यर्थ हो जाता है। उस समय उसकी एक भी नहीं चलती। समुद्र का तूफान भी ऐसी ही एक प्रलयंकर घटना है। उस घटना की विकरालता वही समझ सकते हैं जिन्हें कभी समुद्री तूफान से पाला पड़ा हो! उस समय बड़े से बड़ा साहसी पुरुष भी कायर और किंकर्त्तव्यमूढ़ बन जाता है उसमें अपार दीनता आ जाती है। जब मौत सामने हो और मनुष्य निरुपाय हो, तब जो दशा हो सकती है, उसे शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता।

मगर हे मनुष्य! तू निराश मत हो। कायरता मत धारण कर। ऐसे अवसर पर भी तेरे बचाव का उपाय हो सकता है। यमराज का रूप धारण करने वाला सागर भी तेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा। परन्तु तुझे अपने भौतिक बल का भरोसा त्याग कर भगवान् की शरण में जाना होगा। ऐसे नाजुक प्रसंग पर अगर तू शान्त और निर्मल अन्तःकरण से भगवान ऋषभदेव का स्मरण करेगा तो तेरा समस्त त्रास शीघ्र ही दूर हो जायगा। 'ॐ उसभ, ॐ उसभ, ॐ उसभ' का जाप करेगा तो तेरी समस्त विपदा कट जायगी, संकट हट जायगा और तू शीघ्र ही सकुशल किनारे पर लग जाएगा। तेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा।

तत्त्व से अनभिज्ञ मनुष्य अपनी बाह्य शक्ति का अभिमान करता है। वह समझता है कि मेरे पास पारिवारिक समर्थ जनों का बल है। उनके रहते कोई कुछ भी मेरा बिगाड़ नहीं कर सकता। कोई समझता है-धन का अक्षय भंडार मेरे अधीन है। उस धन की सहायता से मैं समस्त प्रतिकूलताओं पर विजय प्राप्त कर लूंगा। धन की शक्ति के सामने किसी की नहीं चल सकती! इसी प्रकार कोई अपनी शारीरिक शक्ति के अभिमान में चूर है तो कोई सत्ता के मद में झूम रहा है! परन्तु अनुभव बतलाता है कि यह समस्त शक्तियाँ अवसर आने पर बेकार साबित होती हैं।

जब तक मनुष्य भौतिक बल पर भरोसा किये बैठा है और परमात्मा की शरण ग्रहण नहीं करता, तब तक उसका त्राण होना असंभव है। शास्त्रकारों ने अनाथी मुनि के उदाहरण से इस तथ्य को इतने सुन्दर और स्पष्ट रूप से चित्रित कर दिया है कि साधारण से साधारण समझ वाला भी उसे समझ सकता है।

मगर जो बात हमारे नित्य के अनुभव से ही सिद्ध है, उसके लिए शास्त्र के आधार की आवश्यकता ही नहीं। 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्?' इस भूतल पर असंख्य चक्रवर्ती जैसे धनबल, जनबल, सैन्यबल और सत्ताबल वाले आये पर अन्त में उनकी क्या दशा हुई? उनमें जो ज्ञानवान थे, तत्त्व के मर्म को जिन्होंने समझा था, वे उस और असाधारण बल को निस्सार और बेकार समझ कर प्रभु की शरण में गये। उनका कल्याण हो गया। मगर जो अन्त तक अपने ही बल के अभिमान में डूबे रहे, उन्हें सातवें नरक का अतिथि बनना पड़ा। इस काल के आद्य चक्रवर्त्ती भरत और अन्तिम चक्रवर्त्ती ब्रह्मदत्त दोनों प्रकार के उदाहरण हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं।

भाइयो! शास्त्र में आठ प्रकार का मद-अभिमान कहा है। उसमें जाति का, कुल का, बल का, धन का अभिमान भी शामिल है। यह आठ मद मनुष्य को मदिरा के समान भानहीन बना देते हैं। जब तक यह बने हैं, जीव को वास्तविकता का बोध नहीं होता। जब इन मदों का परित्याग करके जीव आत्मबली और परमात्मपरायण बनता है, तभी उसकी ईश्वरीय शक्ति विकसित होती है। अतएव अगर अपना कल्याण चाहते हो तो भगवान् ऋषभदेव की शरण ग्रहण करो। वे समस्त संकटों को चूर करने वाले हैं। ऐसे ऋषभदेव भगवान् को ही हमारा बार बार नमस्कार हो।

भगवान् ऋषभदेव महान् अवतारी पुरुष हुए हैं। वे महान् योगीश्वर थे। भारतीय संस्कृति का मूल संस्थापक होने का गौरव उन्हीं को प्राप्त है। वे सर्वमान्य उपास्य देव हैं। जैन और जैनेतर समान रूप से उन्हें मानते और पूजते हैं। कई लोगों का खयाल है और वह सत्य प्रतीत होता है कि आदम बाबा के नाम से प्रसिद्ध महापुरुष भगवान् आदिनाथ ऋषभ ही हैं। वेदों में उनकी स्तुति की गई है और उनके माहात्म्य का प्रभावशाली शब्दों में वर्णन किया गया है। भागवत पुराण में तो उनका खूब विस्तार से चरित वर्णित है। वह इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थङ्कर हैं।

भगवान् ऋषभदेव का जीवन अन्य तीर्थङ्करों के जीवन से निराला है। अन्य तीर्थंकरों ने धर्म की व्यवस्था की है, पर आदिनाथ भगवान ने समाज व्यवस्था की भी जड़ें जमाई हैं। इस अन्तर का कारण यह है कि भगवान् युग की आदि में हुए थे। उस समय की परिस्थिति और जीवन पद्धति एकदम भिन्न प्रकार की थी। न समाज था, न परिवार थे, न कलाकौशल था, न उद्योग-व्यापार था। और न जीवन निर्वाह के आधुनिक साधन थे और न लोगों को इन साधनों का ज्ञान ही था। इन सब बातों की शिक्षा दिये बिना और समाज की व्यवस्थित रूपरेखा कायम हुए बिना धर्म की व्यवस्था संभव नहीं थी। अतएव गृहस्थावस्था में भगवान् ने लौकिक जीवन को सुव्यवस्थित करने का मार्ग दिखलाया और जब यह व्यवस्था हो चुकी तो आत्मकल्याण का पथ प्रदर्शित किया।

भगवान् ऋषभदेव वर्त्तमान चौवीसी के प्रथम तीर्थंकर थे और भगवान् महावीर अन्तिम। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर का एक ही उपदेश और एक मन्तव्य था।

तीर्थंकर भगवान् उपदेश देने से पहले स्वयं राजपाट छोड़ कर साधु व्यवस्था अंगीकार करते हैं। क्योंकि दुनिया में कायदा है कि बड़े आदमी जो कार्य करते हैं, उसका दूसरे लोग भी अनुकरण करते हैं। तीर्थंकर के बराबर बड़ा आदमी और कौन हो सकता है? भगवान् विचार करते हैं कि संसार के जीवों को पहले पहल कौन-सा रास्ता दिखलाना चाहिए? तब संयम की साधना के लिए वे दीक्षा लेते हैं। परन्तु दीक्षा लेने से पहले, दीक्षा का संकल्प करते ही, वे बारह महीनों तक दान देते हैं, जो वर्षी दान के नाम से प्रसिद्ध है। उस दान का वर्णन आचारांगसूत्र के २४ वें अध्ययन में इस प्रकार किया गया है:—

एगा हिरण्णकोडी, अट्ठेव अणूणया सयसहस्सा।
सूरोदयमादीयं, दिज्जइ जाया य रासो त्ति॥
कोडिसया अट्ठासिइ, च होंति कोडीओ असिइं च।
सयसहस्सा एयं संवच्छरे दिण्णं॥

भगवान् अपने हाथों, से सूर्योदय से आरंभ करके एक प्रहर पर्यन्त, प्रतिदिन, एक करोड़ और आठ लाख सोनैयों का महादान देते है।

कहिए, कितनी बड़ी भारी बात है! सूर्योदय से एक प्रहर तक धड़ाधड़ दान देते जाते हैं। दान लेने के लिए दीन, हीन, गरीब जन ही नहीं, बड़े-बड़े राजा-महाराजा, अरबपति और करोड़पति भी आते हैं। तीर्थंकर के परम पावन हाथ से दान मिलना महान् सौभाग्य की बात है। उनके हाथ से एक भी सोनैया मिल गया तो बारह वर्ष तक उस नगर में, जहाँ वह सौनैया रहता है, कोई विघ्न नहीं होने पाता।

दान लेने के लिए कई तरह के लोग आते हैं। वहाँ इन्द्र भगवान की सेवा में खड़े रहते हैं। कोई आदमी कलकत्ता, बम्बई या मद्रास जैसे दूरवर्त्ती किसी नगर में हो और उसके भाग्य में भगवान् के हाथ का दान हो तो देवता उसे ले आने का काम करते हैं और दान ले लेने के पश्चात देवता उसे उसके स्थान पर छोड़ आते हैं।

दान देते समय भगवान् को यह विचार नहीं होता कि किसे ज्यादा दान दिया जाय और किसे कम दिया जाय? वे बराबर-बराबर देते जाते हैं। मगर बाद में देवता उसमें न्यूनाधिक कर देते हैं। जिसके भाग्य में कम होता है, उसके सोनैया हरण करके दूसरे अधिक भाग्यवान् के पास पहुँचा देते हैं।

अहा! कैसी पुण्यवानी है! इस प्रकार दान देते-देते भगवान् बारह महीनों में तीन अरब, अठासी करोड़ और अस्सी लाख सोनैयों का दान करते हैं। दान करने के पश्चात् दीक्षा धारण करते हैं।

यह नहीं कि-'एक रोटी बहराऊँ कि दो! तरकारी बहरा दूं मगर लापसी रहने दूं! और आटा नाप-नाप कर लेना कि—'चार मुट्ठी तो मेरे धनी की, दो मुट्ठी बच्चे की और तीन मुट्ठी मेरी!' इस प्रकार की भावना अति तुच्छ भावना है। जिसके मन में कमी है उसके कमी ही समझो और जिसका चित्त उदार है उसके लिए कहीं कुछ भी कमी नहीं हो सकती।

भगवान् ने चार प्रकार के धर्म का निरूपण किया है—

दान शील तप भावना, जांके सरधा होय।
चला जाय वैकुंठ में, पला न पकड़े कोय।

सब से पहले दानधर्म की गणना की गई है। दूसरा शील का पालन, तीसरा तपश्चर्या करना और चौथा धर्म शुद्ध भावना रखना है।

प्रश्न हो सकता है कि चार प्रकार के धर्म में सर्व प्रथम दान की गिनती क्यों की गई है? इस प्रश्न के दो उत्तर दिये जा सकते हैं—

(१) मुख्य रूप से दान गृहस्थ का धर्म है। गृहस्थ संचय करता है, अतएव उसमें से दान दे सकता है। साधु अकिंचन होता है। फूटी कौड़ी उसके पास नहीं रहती। वह अनगार होता है, अतएव महल, मकान आदि उसके पास नहीं होते। वह भिक्षु होता है, अतएव उदरपूर्त्ति के योग्य ही भिक्षा लेकर अपना निर्वाह कर लेता है। शास्त्र में बड़े ही सख्त शब्दों में कहा गया है कि साधु को अगले दिन के लिए भी आहार लेकर अपने पास नहीं रखना चाहिए। आगामी दिन विहार करके ऐसी जगह पहुँचना हो जहाँ भिक्षा न मिल सकती हो और साधु इस बात को जानता हो तो भी वह एक दिन पहले आहार लेकर नहीं रख सकता। जो लेकर रख लेता है, वह वास्तव में साधु नहीं, गृहस्थ ही है। यथा-

जे सिआ सन्निहिं कामे, गिही पव्वइए न से।

—दशवैकालिक, ६-१९

इससे यह स्पष्ट है कि साधु के पास दान देने को कुछ होता ही नहीं है जिसे वह दान दे सके। क्यों कि दान का अर्थ है- ममता त्यागना और ममता उसी की उतारी जाती है, जिस पर ममता धारण कर रक्खी हो। साधु की किसी भी भौतिक पदार्थ पर ममता नहीं होती तो उसके त्यागने का प्रश्न ही नहीं उठता।

गृहस्थ धन आदि पदार्थों का संचय करता है। उन पर उसकी ममता भी होती है। अतएव ममता का त्याग करना उसके लिए उचित है। उन पदार्थों के उपार्जन और संरक्षण आदि में आरंभ-समारंभ आदि से उत्पन्न हुए पापों का प्रक्षालन करने के लिए भी दानधर्म का सेवन करना आवश्यक है। इस प्रकार से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि दान गृहस्थधर्म है, और गृहस्थावस्था, साधुपर्याय से पहले होती है, अतएव दानधर्म को प्रथम स्थान दिया गया है। शेष तीनों धर्म गृहस्थ और त्यागी दोनों के लिए समान हैं, अतः उनकी बाद में गणना की गई है।

(२) दानधर्म की प्रथम गणना करने का दूसरा कारण भी है। शील, तप और भावना धर्म का पालन करने में किसी प्रकार का खर्च नहीं करना पड़ता, लेकिन दान देने में ममता का त्याग करना पड़ता है। ममता का त्याग करना बड़ा कठिन काम है। जो कमाता है वही जान सकता है किस तरह पैसा जुड़ता है! एक-एक आना करते-करते दो रुपये और फिर सौ रुपये इकट्ठे होते हैं। खास तौर से जो पूर्वभव में मक्खीचूस रहा है, उसे इस जन्म में द्रव्य की प्राप्ति होना बड़ा कठिन है। वह तो एक-एक आने को एक-एक मोहर के समान समझता है और प्राणों की तरह उसकी रक्षा करता है। फिर भी उसे पर्याप्त द्रव्य नहीं मिलता।

आगामी भव में सुखसामग्री प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन दान है। दान का फल आगामी भव में तो प्राप्त होता ही है, इस भव में भी प्राप्त होता है।

दीजो दान सदा रे दीजो दान सदा,
जां घर वरते सुख-सम्पदा।

पूर्व भव में वेराई थी खीर,
शालिभद्र जैसा हुआ अमीर ॥

वस्तुतः दान देना बहुत कठिन है। जिसने दानान्तराय कर्म का क्षयोपशम नहीं किया, उसकी भावना देने की नहीं होती। जिसे रुपये से विशेष मोह होता है, वह कंजूस न तो दान दे सकता है और न स्वयं ही पेट में खा सकता है।

किसी समय एक गृहिणी ने अपने पति से कहा-आज त्यौहार का दिन है और चूरमा बनाना है; अतः एक रुपये का घी ले आओ। पति बरतन लेकर और मुट्ठी में रुपया दबाकर घर से निकला और सीधा घी वाले की दुकान पर पहुंचा। दुकानदार से कहा-घी है ?

दुकानदार ने कहा—हाँ, बढ़िया ताजा है।

खरीददार—क्या भाव दोगे ?

दुकानदार—अढ़ाई रुपया सेर।

खरीददार—दो रुपया सेर नहीं दोगे ?

दुकानदार—अच्छा, ले जाओ।

खरीददार—नहीं, देना हो तो डेढ़ रुपया सेर दे दो। नहीं तो मैं दूसरी दुकान देखूँगा।

दुकानदार के उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही वह चल दिया। दूसरी दुकान पर भी इसी प्रकार पूछताछ कर तीसरी दुकान पर गया। चार-पाँच दुकानों पर हाजिरी देकर भी वह घी नहीं खरीद सका।

एक दुकानदार इस कंजूस खरीददार को बड़े गौर से देख रहा था। जब वह वापिस जाने लगा तो इस दुकानदार ने सोचा-यह कंजूसों का शिरोमणि जान पड़ता है। हर्गिज घी नहीं खरीदेगा। यह सोचकर इसने उसे आवाज देकर बुलाया और कहा-भाईजी, घी किस भाव से लेना चाहते हो? कंजूस ने जिस भाव से लेने को कहा, दुकानदार ने उसी भाव से देने की तैयारी दिखलाई। कहा-अच्छा, इसी भाव ले लो। कहो कितना तोल दूं?

कंजूस महाशय ने रुपये को खूब दबाकर पकड़ रक्खा था, मानों वह कोई पंखों वाला पक्षी हो और उड़ कर भाग जाने की संभावना हो। अतएव हाथ में पसीना आ गया और पसीने से रुपया गीला हो गया। रुपये की यह दशा देखकर उसने दुकानदार से कहा-रहने दो भाई मैं घी नहीं लूँगा। दुकानदार ने पूछा-क्यों, क्या हो गया? तब वह बोला-देखो न, बेचारा रुपया घर से बाहर जाते रो रहा है। मुझसे रुपये का यह रोना नहीं देखा जाता। रुपये को रोते देख मेरा दिल भी रोने को होता है।

इतना कहकर उसने रुपये को फिर मुट्ठी में दबाया और फिर घर की तरफ चल दिया। वह डर रहा था कि कहीं फिर कोई दुकानदार आवाज़ न दे दे! अतएव इधर-उधर देखे बिना ही वह तेजी से कदम बढ़ा कर चला और सीधा अपने घर पहुँचा।

खाली बरतन देख पत्नी ने पूछा—क्यों, घी नहीं लाये क्या? तब मुस्करा कर उसने कहा—देख तो सही इस रुपये को! बेचारा रोने लगा। यह बाहर जाना ही नहीं चाहता। जब यह जाना ही नहीं चाहता था तो घी आता कैसे?

पत्नी ने तुनक कर कहा—रुपया रोता है या खर्च करते तुम्हारा दिल रोता है?

भाइयो ! ऐसे लोगों के हाथ से कभी दान नहीं हो सकता इसी कारण अगले भव में उन्हें रोना पड़ता है ।

पूर्वजन्म में शालिभद्र का जीव ग्वाल का लड़का था । उसका नाम संगम था । उच्च भाव से उसने मुनिराज को खीर वहराई तो मर कर शालिभद्र के रूप में जन्म लिया ।

संगम की माता अत्यन्त दरिद्र थी । बड़ी कठिनाई से मिहनत-मजूरी करके, रूखी-सूखी खाकर अपना और संगम का पेट पालती थी । एक दिन संगम को पड़ौस के बालकों से पता चला कि उनके यहाँ आज खीर बनी है । संगम घर आकर खीर खाने का आग्रह करने लगा । जब माता ने उसे बतलाया कि अपन गरीब हैं और खीर के लिए जो सामग्री चाहिए, वह अपने घर में नहीं है । दूध नहीं, शक्कर नहीं, चावल तक नहीं हैं । खीर खाने की आशा त्याग दे ।

संगम रोने लगा । उसने बुरी तरह हठ पकड़ लिया । उस समय माता का कलेजा कितना कटा होगा, यह तो कोई भुक्तभोगी ही जान सकता है । अपनी दीन दशा को देखकर वह भी रुदन करने लगी ।

बालक का रोना सुनकर एक पड़ौसिन आई । उसने रोने का कारण पूछा, मगर स्वाभिमानिनी माता के मुख से आवाज़ नहीं निकल सकी । बार-बार आग्रह करने पर उसने संगम के रोने का कारण बतलाया । पड़ौसिन ने सहानुभूति प्रकट की और कई पड़ौसिनों के घर से खीर का सामान आ गया किसी के घर से दूध, किसी के घर से शक्कर और किसी के घर से चावल ! यद्यपि ग्वालिन गरीब थी, मगर अपने गौरव को कभी ठेस नहीं लगने देती थी । उसने कभी किसी के सामने हाथ नहीं पसारा ।

जो मिला सो खाया और न मिला तो भूखी रही, मगर याचना कभी नहीं की। आज दूसरों का ऐहसान लेते उसे अतीव वेदना हो रही थी, मगर वह इंकार न कर सकी। इंकार करने से एक तो सहानुभूति और प्रेम प्रकट करने वाली पड़ौसिनों का अपमान होने का भय था, दूसरे संगम का खयाल था। अतएव उसने खीर की सामग्री लेकर खीर पकाई।

खीर पक चुकी थी। माता ने एक थाली में परोसकर संगम के सामने रख दी और वह पानी भरने चली गई। संगम खीर की थाली सामने देखकर कितना प्रसन्न था! जैसे तीन लोक का राज्य मिल गया हो! जिंदगी में पहली बार ही उसे खीर मिली थी और वह भी बड़ी परेशानी के बाद! अतएव उसे सामने देखकर वह फूला नहीं समा रहा था। ठंडा होने की प्रतीक्षा कर रहा था।

उसी समय एक तपस्वी मुनिराज उसके घर के सामने से निकले। मुनिराज को देखकर उसने सोचा-मैं भी इन्हें दान दूं तो कितना अच्छा हो। यह सोचकर उसने तत्काल उन्हें आवाज़ दी। मुनिराज भी उसके सौभाग्य से प्रेरित होकर उसके घर में प्रविष्ट हुए।

संगम ने थाली में परोसी हुई खीर के दो भाग करने के लिए बीच में उंगली से रेखा खींच दी। फिर वह उलट भाव से मुनिराज के पात्र में खीर डालने लगा। लेकिन खीर तो आधी रुक नहीं सकती थी, वह सारी की सारी पात्र में पहुँच गई। तब मुनिराज ने कहा-बच्चे, तुझे जीमना होगा न? लड़के ने हर्ष के साथ कहा-महाराज, आपका पदार्पण कब-कब होता है! न जाने कौन से पुण्य का उदय हुआ कि आपका पदार्पण हो गया! आप मेरा विचार न करें। मैं जानता हूं कि खीर कैसे बनती है। आज मैं

माँ के सामने खूब रोया था, तब यह खीर बनी थी। एक बार फिर रोऊँगा तो फिर बन जाएगी।

अहा ! कितनी उच्च और पवित्र भावना है ! इतनी कठिनाई से प्राप्त वस्तु को इस प्रकार उदारता से त्याग देना कोई साधारण बात नहीं है। जिनके पास आवश्यकता से अधिक सामग्री होती है, वे भी कई बार बड़ी कठिनाई से दान करते हैं और कोई-कोई तो कर भी नहीं सकते। मगर धन्य रे संगम ! तेरी उदारता अनूठी है।

बालक के भाव बहुत ऊँचे चढ़ गये। दान देने से पूर्व, देते समय और देने के बाद भी उसे अपूर्व हर्ष था। उसे सारी की सारी खीर पात्र में गिर जाने पर भी, तनिक भी खेद न हुआ।

भाइयो ! खीर बड़ी चीज नहीं है। संगम को जो लाभ हुआ, वह उसकी उच्च भावना का फल था। चन्दनबाला ने उड़द के बाकुले भगवान् महावीर को बहराये थे तो बाकुले बड़ी चीज थीं ? नहीं, उसकी भावना बड़ी चीज थी, जिसने दिव्य शक्ति को आकर्षित कर लिया और बन्धनों से छुटकारा पाया।

हाँ, तो उच्च भावना से दिये गये उस सुपात्र दान के प्रभाव से वह ग्वाल का लड़का एक सेठ के घर में उत्पन्न हुआ। सेठ असीम सम्पत्ति का धनी था। शालिभद्र के नाम से वह उसके पुत्र रूप में जन्मा। दान के प्रभाव से उसे कैसी ऋद्धि प्राप्त हुई ?

दान सुपातर से जीव तरिया ॥ टेर ॥

शालिभद्र कैसी रिद्धि पाई, तो महल मिले हीरे पन्ने के जड़िया।
नारी बत्तीस मिली अति सुंदर, जैसे उतर आई स्वर्ग से परियां ॥

देखो कितने ऊँचे दर्जे की पुण्यवानी है। शालिभद्र को ऐसी पत्नियाँ मिलीं कि उनके सामने राजा की रानियाँ किस गिनती में हैं! और महल मिले तो वह भी हीरों-पन्नों से जड़े फर्श वाले! और भी—

नाटक होवे बत्तीस मनोहर,
तो बीत रही हैं सुखमय घड़ियाँ ॥
रत्नजटित हैं पलंग जिन्हों के,
तो सेज बिछी है चुन-चुन कलियाँ ॥
सूरज से भी अधिक है कान्ति,
चम चम चमके ज्यूं हीरे की कणियाँ ॥
'चौथमल' कहे दान प्रभावे,
नव निधि पाई जहाँ पग धरियाँ ।

भाइयो! उस खीर के दान के प्रभाव ने उस जीव को कितना सुखी बना दिया! अगर उसने खीर न बहराई होती तो क्या यह महान् वैभव उसे प्राप्त हो सकता था? कदापि नहीं। रोटी बनानी होती है तो धुएँ का कष्ट उठाना ही पड़ता है। ठीक ही कहा है—

दुख बिन सुख नहीं होवे।

स्वेच्छा से समभाव पूर्वक सहन किया हुआ दुःख अपूर्व सुख का कारण बनता है। अशुभ कर्म के उदय से जो दुःख आ पड़ा है वह तो भोगना ही पड़ता है, चाहे उसे समभाव से भोगो चाहे हाय-हाय करते हुए भोगो। उन्हें भोगे बिना छुटकारा नहीं। मगर दोनों प्रकार से भोगने के परिणाम में बड़ा अन्तर पड़ता

है। समभाव से दुःख भोग लिया जाता है तो भविष्य के लिए दुःखों की जड़ कट जाती है, क्योंकि नया कर्मबंध नहीं होता और यदि हाय-हाय करते, आर्त्तध्यान के साथ दुःख भोगा जाता है तो नये चिकने कर्म बंधते हैं और आगे चलकर पुनः दुखः भोगने पड़ते हैं। अनादि काल से दुःखों की जो परम्परा चल रही है, उसका यही कारण है। इस जीव ने समभाव की आराधना नहीं की, इसी से दुःखों का तांता जारी है।

संगम की माता और संगम ने शान्ति और सन्तोष के साथ परिस्थिति का सामना किया। इसी प्रकार अगर आप सन्तोष धारण करेंगे और कठिन से कठिन परिस्थिति में भी धैर्य और औदार्य रक्खेंगे तो आपका भविष्य भी उज्ज्वल बनेगा।

याद रक्खो, पहले नाना प्रकार के कष्ट सहन किये बिना सुख की प्राप्ति होना संभव नहीं है। पहले पहल छोटी बच्ची के नाक-कान बींधे जाते हैं तो वह रोती है, कभी पक जाते हैं तो और अधिक पीड़ा होती है, मगर जब कानों में हीरा जड़े कनफूल पहनती है और नाक में पाँच सौ की लोंग पहनती है तो कितना आनन्द होता है! यह आनन्द उस दुःख के बिना कहाँ?

संगम खीर की ममता का त्याग न करता तो शालिभद्र सेठ नहीं बन सकता था। त्रिफला की फांकी लेना सुखद नहीं जान पड़ता, किन्तु जब पेट स्वच्छ हो जाता है और भोजन की रुचि बढ़ जाती है और तबियत हल्की महसूस होती है तो कितनी प्रसन्नता होती है? इसी प्रकार अन्तःकरण को शुद्ध करने के लिए त्रिफला के समान जब रत्नत्रय का सेवन किया जाता है, तपस्या और संयम की आराधना की जाती है तब कष्ट तो होता है, किन्तु उस कष्ट को कष्ट न समझ कर जो समभाव

रखते हैं, उन्हें केवलज्ञान आदि फल की प्राप्ति होने पर कितना आनन्द मिलता है ? सुबह से शाम तक दुकानदार दुकान पर जम कर बैठता है। उस समय उसे अच्छा नहीं लगता। सोचता है– जैसे कैदी हो गया हूँ ! परन्तु शाम के समय जब कमाई का हिसाब लगाता है और जानता है कि मुझे दो रुपये का मुनाफा हुआ है, तब कितनी प्रसन्नता का अनुभव करता है ?

इन बालकों को ही देखो। यह विद्याभ्यास करते हैं। जब परीक्षा का समय सन्निकट होता है तो कितनी मिहनत करते हैं ! रात्रि में दो बजे जाग उठते हैं और पुस्तकों के साथ सिरपच्ची करते हैं। मगर जब बी. ए. एम. ए. होकर ऊँचा ओहदा पाते हैं तो कितना आनन्द हो जाता है !

सारांश यह है कि करनी के बिना फल नहीं मिलता। चाहे लौकिक सुख हो या लोकोत्तर, उसके लिए समुचित प्रयत्न करना पड़ता है। आज आप जो कार्य कर रहे हैं, मत समझो कि वह काल के साथ समाप्त हो रहा है। प्रत्येक कार्य बीज के रूप में परिणत हो रहा है और अवसर आने पर उससे सुख-दुःख के अंकुर उत्पन्न होंगे। वही कृत्य आपका भाग्य निर्माण करते हैं। उन्हीं के अनुसार आपको फल की प्राप्ति होने वाली है।

भाइयो ! बीज बोना तुम्हारी इच्छा पर निर्भर है। चाहो तो शुभ कृत्य करके सुख के बीज बो सकते हो और चाहो तो पापाचार करके दुःख के बीज बो सकते हो। दोनों प्रकार के बीज बोने की तुम्हें स्वाधीनता प्राप्त है। किंतु बीज बो देने के बाद अंकुर इच्छानुसार पैदा नहीं किए जा सकते। तुम चाहो कि पापाचरण करके हम दुःख के बीज बोएँ और उनसे सुख के अंकुर फूट निकलें यह सर्वथा असंभव है। अपढ़ किसान

भी समझता है कि चने के बीज से गेहूँ का पौधा नहीं उत्पन्न होता। मगर तुम उससे भी गये-बीते हो। तुम सुख पाने के लिए पापों का आचरण करते हो! मगर ऐसा करके कदापि सफलमनोरथ नहीं हो सकते।

सुख चाहते तो सुख के बीज बोओ। सुख के बीज कौन-से है? दान, पुण्य, परोपकार, दया, क्षमा, करुणा आदि सात्त्विक भावनाएँ पुण्य के बीज हैं। इन्हीं से सुख का लहलहाता पौधा उत्पन्न होता है। उसी पौधे में आनन्द के अमृतफल लगते हैं।

इस प्रकार का विवेक मनुष्य में हो सकता है। संसार के अन्य किसी भी प्राणी में इतना विकसित विवेक नहीं पाया जाता। मगर सच्चा मनुष्य कोई-कोई ही होता है। जिसमें पाँच गुण पाये जाते हैं, वही सच्चा मनुष्य है। कहा है—

पात्रे त्यागी गुणे रागी, संविभागी च बन्धुषु।
शास्त्रे बोद्धा रणे योद्धा, पुरुषः पञ्चलक्षणः॥

मनुष्य में पहला गुण यह होना चाहिए कि वह अच्छी ऊँची भावना से दान देने वाला हो। जिसके हृदय में उदारता होती है, उसके माता, पिता भाई, बहिन, बेटा और बेटी आदि सभी पारिवारिक जन प्रसन्न रहते हैं। माँ-बाप वृद्ध हो गये हैं। अगर बेटा प्रेम और श्रद्धा के साथ उन्हें वस्त्र लाकर देता है तो वे कहेंगे-मेरा बेटा तो राम सरीखा है। पत्नी को दोगे तो वह भी कहेगी-भर्त्तार क्या हैं, साक्षात् कर्त्तार हैं। भाई कहेंगे यह मेरी भुजा है और सभी तुम्हारी प्रशंसा करेंगे। नहीं दोगे तो सभी मुँह फुलाये रहेंगे। औरत भी कहेगी-किससे पाला पड़ गया! इनके राज्य में न अच्छा खाया, न पिया, न पहिना, न ओढ़ा! दासी

की तरह सारी जिंदगी बर्बाद होगई। कुछ भी नहीं पाया इस जीवन में।

दानी जगत् को अपने वश में कर लेता है। दाता देवता को भी अपनी मुट्ठी में करके उससे इष्ट कार्य करवा लेता है। अतएव दान देना मनुष्य का बड़ा भारी गुण है।

मनुष्य का दूसरा लक्षण है-'गुणे रागी' होना। दूसरों में जो सद्गुण हैं, उन्हें देखकर प्रसन्न होना चाहिए, ईर्ष्या नहीं। जब किसी में कोई गुण दिखाई दे तो यही कहना चाहिए कि-यह बड़े पुण्यवान् हैं। कितनों को धर्म के रास्ते पर लाए। इस प्रकार गुणवान् का गुणानुवाद अवश्य करो। जो दूसरों के गुणों की प्रशंसा करेगा, उसके वचनों का कभी निरादर नहीं होगा। वह अवसर आने पर परोपकार के लिए लाखों रुपये माँगेगा तो भी उसे मिलने में कोई कठिनाई नहीं होगी। वह कहेगा कि आज यह बात होनी चाहिए तो वही होगी। उसका वचन खाली नहीं जायगा। जो दूसरे के गुणों की प्रशंसा नहीं करते वरन् उससे डाह करते हैं और सोचते हैं कि दूसरे लोग भी इसकी प्रशंसा न करें, वे गूँगे बनकर एँ-एँ करते फिरते हैं।

परकीय गुणों के प्रति अनुराग का भाव रखना शास्त्र में प्रमोद भावना के नाम से कहा गया है। जैसे प्राणी मात्र पर मैत्री की भावना होना आवश्यक है, उसी प्रकार गुणीजनों पर प्रेमभाव होना भी आवश्यक है। विवेकवान् जन प्रतिदिन यह भावना भाते हैं कि-हे प्रभो!

गुणी जनों को देख हृदय में, मेरे प्रेम उमड़ आवे।

गुणी जनों पर राग होना एक प्रकार से गुणों पर ही राग होना है और गुणों पर अनुराग रखने वाला व्यक्ति स्वयं गुणवान् बन जाता है। इसके विपरीत जो गुणी जन के प्रति ईर्ष्या का भाव धारण करेगा, वह गुणी नहीं बन सकता। वह अपने को दोषों का भंडार बना लेता है।

मनुष्य का तीसरा गुण है समुचित विभाग करना। घर में जो हो उसका बराबर हिस्सा करना ही न्यायसंगत है। जो प्रामाणिकता के साथ बँटवारा करता है, उसके परिवार के सभी लोग प्रसन्न रहते हैं, पारस्परिक प्रेम की घनिष्ठता बनी रहती है और बाहर भी उसकी प्रशंसा होती है। उसके भाई कहते हैं— हमारा भाई क्या रत्न है! मगर जो बेईमानी से दबा कर बैठ जाता है, उसकी घर-बाहर सभी जगह बदनामी होती है। भाई-भाई में मुकदमेबाजी होती है और कभी-कभी तो यहाँ तक भयानक दुष्परिणाम आता है कि खून-खच्चर भी हो जाता है। आये दिन अखबारों में इस प्रकार की अनिष्ट घटनाएँ छपती रहती हैं।

चौथा गुण मनुष्य में यह होना चाहिए कि वह ज्ञानवान् हो। शास्त्रों का पठन-पाठन करके ज्ञान की वृद्धि करता रहे। अगर ज्ञान न होगा तो सभा के बीच म बोल नहीं सकेगा। ज्ञान मनुष्य की असली आँख है। ज्ञान के अभाव में आँखों के होते हुए भी मनुष्य अंधा है। पहले जमाने में ऐसे-ऐसे श्रावक हो गये हैं कि अन्यमतियों के प्रश्न करने पर उन्होंने ऐसा युक्तिसंगत उत्तर दिया कि भगवान् महावीर को समवसरण में प्रशंसा करनी पड़ी।

पाँचवाँ गुण शूरवीरता है। मनुष्य को कायर नहीं होना चाहिए और अवसर पड़ने पर वीरता दिखलानी चाहिए। ऐसा नहीं कि कोई आक्रमण करने आया तो दब्बू बन कर द्वार बंद कर

घर में घुस रहे ! मन में कायरता मत लाओ। तुम भी दूसरों के समान ही मनुष्य हो और दूसरे भी तुम्हारे ही समान मनुष्य हैं। कोई तुम्हारे ऊपर हमला कर सकता है तो तुम क्या अपना वीरतापूर्वक बचाव भी नहीं कर सकते ? महावीर की सन्तति को महावीर नहीं तो कम से कम वीर तो होना ही चाहिए।

घर में कोई अचानक घुस जाय और दूसरा कोई साधन बचाव का न हो दूसरा मनुष्य कहता है कि—कम से कम लाल मिर्चें तो सभी घरों में होती हैं। उनके सहारे भी अपना धर्म बचाया जा सकता है, बशर्ते कि हृदय में दृढ़ता हो, हिम्मत हो।

पुरुषों की तरह स्त्रियों में भी ताकत होती है। बोलो झांसी की रानी लक्ष्मीबाई कैसी मर्दानी थी ? अपने छोटे से बच्चे को पीठ पर बांध लिया और स्वयं घोड़े पर सवार होकर, हाथ में तलवार लेकर सच्ची वीरांगना की तरह शत्रुओं के बीच कूद पड़ी। उसने शत्रु सैनिकों में खलबली मचा दी। दुर्गा का रूप धारण करके स्वाधीनता की रक्षा के लिए प्राणों की भी परवाह नहीं की।

सच तो यह है कि वीरता के बिना काम नहीं चलता। वीरता के अभाव में न धर्म ही रहता है और न धन ही रहता है। 'वीरभोग्या वसुन्धरा' उक्ति तो प्रसिद्ध ही है। जिसमें वीरता नहीं उस पुरुष को मर्द कहा जाय या वर्द-बलद-बैल ! और उन नारियों को बायाँ कहा जाय या गायां !

जो पुरुष इन पाँचों गुणों से युक्त है, वही वास्तव में पुरुष कहलाने योग्य है। इन पाँच गुणों में भी दान को प्रथम दर्जा दिया गया है। यद्यपि तीर्थङ्कर भगवान् तद्भवमोक्षगामी हैं, उन्हें परलोक में नहीं जाना है, दूसरा जन्म नहीं लेना है, फिर भी वे

उदार दान देते हैं। मगर आपको तो परलोक में जाना है। अतएव अवश्य ही दान देना चाहिए।

भारतवर्ष के समान कोई देश नहीं है जहाँ दान देने की भावना इतनी जबर्दस्त हो। गांधीजी ने कहा-शरणार्थियों के लिये कम्बलों और रजाइयों का दान दो। उनके इतना कहते ही दस लाख रजाइयों का इन्तजाम हो गया। गांधीजी के वचनों में शक्ति थी, क्योंकि उनके वचन परोपकार के लिए निकलते थे।

भाइयो! समय का बड़ा महत्त्व है। समय पर पैसा काम में नहीं आएगा तो पैसा रहे या न रहे, लेकिन लाभ से वंचित तो हो ही जाओगे। जो समय का सदुपयोग करके उत्तम काम कर लेते हैं, उनका नाम दुनियां में अमर हो जाता है। तीर्थङ्करों की गुण गाथा इसलिए गाई जाती है कि उन्होंने समय पर महान् दान दिया और तत्पश्चात तपस्या करके सर्वज्ञता प्राप्त करके, जगत् को सन्मार्ग दिखलाया।

भाइयो! अगर आप दान आदि चतुर्विध धर्म का पालन करोगे तो आनन्द ही आनन्द होगा।

ब्यावर
२७-१०-४७



रात्रि भोजन



स्तुतिः—

उद्भूतभीषणजलोदरभारभुग्नाः,
शोच्यां दशामुपगताश्च्युत जीविताशाः।
त्वत्पादपंकजरजोऽमृत दिग्धदेहा—
मर्त्या भवन्ति मकरध्वजतुल्यरूपाः ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं–हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

महाप्रभो ! जगत् में कई प्रकार की बीमारियाँ हैं। कहा भी है:—

शरीरं व्याधिमन्दिरम् ।

मनुष्य का शरीर बीमारियों का घर है। शरीर के रोम-रोम में अनेकानेक रोगों का निवास है। वात, पित्त या कफ की अथवा इनमें से किसी दो या तीन की विषमता होते ही शरीर की स्वस्थता भंग हो जाती है और विकृति उत्पन्न हो जाती है। इस विकृति का नाम ही बीमारी है। वात आदि की विषमता भी एक रूप नहीं होती। विषमता की तरतमता के कारण उसके भी अनेक रूप होते हैं। इस प्रकार बीमारियों की संख्या का कोई हिसाब नहीं है।

इन बहुसंख्यक बीमारियों में कुछ साधारण और कुछ असाधारण होती हैं। कई अत्यन्त भीषण होती है, जो जीवन को खतरे में डाल देती हैं और अन्त में शरीर का अन्त करके ही पिण्ड छोड़ती हैं। जलोदर नामक बीमारी भी इन भयानक बीमारियों में से एक है। शास्त्रों में गिनाये गये सोलह महारोगों में इसकी भी गणना की गई है।

कदाचित असातावेदनीय कर्म के उदय से कोई मनुष्य इस बीमारी में फँस गया हो, उसकी दशा शोचनीय हो गई हो, वैद्यों और डाक्टरों ने हाथ खींच लिया हो, वे उसे असाध्य समझकर निराश हो चुके हों. ऐसी दशा में अगर वह पुरुष आपके चरण-कमलों की रज शरीर पर लगावे तो उसकी समस्त बीमारी सहसा विनष्ट हो जाती है और वह कामदेव के समान सुन्दर रूपवान् हो जाता है। उसकी सारी बीमारी चली जाती है। भगवान् के चरणरज में ऐसी अलौकिक और अतर्क्य शक्ति है। ऐसे महामहिम भगवान् आदिनाथ को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

आयुर्वेदाचार्यों का कथन है कि जलोदर की भयंकर बीमारी किसी भी प्रकार से पेट में जूं के चले जाने से उत्पन्न होती है।

यह बात तो आप सभी जानते हैं कि जूं को कोई जानबूझ कर नहीं खाता। वह असावधानी से, भोजन को भलीभांति बिना देखे खाने से पेट में चली जाती है और जलोदर जैसे महान् रोग को उत्पन्न कर देती है। इस तरह की असावधानी की संभावना रात्रि में भोजन करने से होती है। रात्रि का भोजन अन्धा भोजन है। दीपक आदि का प्रकाश करके रात्रि में खाया जाय तो प्रकाश से आकृष्ट होकर असंख्य छोटे-छोटे जन्तु आ जाते हैं और वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि दिन में भी दिखाई न दें या चलते फिरते समय हो कठिनाई से दिखाई दें तो रात्रि में दीखने का प्रश्न ही नहीं उठता। वे उड़ते-उड़ते आकर जब दाल शाक में मिल जाते हैं तब तो उनको दीखना संभव ही नहीं होता। कदाचित् प्रकाश किये बिना ही रात्रि के अंधेरे में भोजन किया जाय तो और भी बुरा! उस समय तो बड़े-बड़े जन्तु भी दृष्टिगोचर नहीं हो सकते।

इस प्रकार रात्रिभोजन दोनों दशाओं में बड़ा ही हानिकारक सिद्ध होता है। अतएव जैनशास्त्र इन हानियों का खयाल करके और साथ ही अन्य दृष्टियों से भी रात्रिभोजन का तीव्र शब्दों में निषेध करता है। शास्त्र में कहा है—

अत्थंगयम्मि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गमे।
आहारमाइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए॥

अर्थात्—सूर्य के अस्त हो जाने के पश्चात से लगा कर जब तक सूर्य का पूर्व दिशा में उदय न हो जाय, तब तक आहार आदि ग्रहण करना तो दूर, ग्रहण करने की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए।

श्री हेमचन्द्राचार्य ने अपने योगशास्त्र में रात्रि भोजन का अतीव उग्र शब्दों में विरोध किया है और उससे होने वाली हानियों पर भी प्रकाश डाला है। वे कहते हैं—

घोरान्धकाररुद्धाक्षैः पतन्तो यत्र जन्तवः।
नैव भोज्ये निरीक्ष्यन्ते, तत्र भुञ्जीत को निशि ?॥

अर्थात्—रात्रि में फैले हुए घोर अंधकार के कारण भोजन में गिरने वाले जन्तु नजर नहीं आते हैं। ऐसी दशा में कौन समझदार रात्रि में भोजन करेगा ? अर्थात् विवेकवान् पुरुष रात्रि में भोजन नहीं कर सकता।

रात्रि भोजन से दो प्रकार की हानियाँ होती हैं—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। अप्रत्यक्ष हानियों की उपेक्षा बहुत-से लोग कर सकते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष होने वाली हानियों को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है ? उन प्रत्यक्ष हानियों में कुछ यह हैं:—

मेधां पिपीलिका हन्ति, यूका कुर्याज्जलोदरम्।
कुरुते मक्षिका वान्तिं, कुष्ठरोगं च कोलिकः॥
कण्टको दारुखण्डं च, वितनोति गलव्यथाम्।
व्यञ्जनान्तर्निपतितस्तालु विध्यति वृश्चिकः॥
विलग्नश्च गले वालः, स्वरभंगाय जायते।
इत्यादयो दृष्टदोषाः, सर्वेषां निशि भोजने॥

रात्रि भोजन में प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली हानियों में कतिपय यह हैं—कदाचित् भोजन में चींटी मिल जाय और पेट में चली जाय तो बुद्धि का विनाश होता है। जूं चली जाय तो

जलोदर की बीमारी होती है। मक्खी पेट में पहुँचते ही वमन उत्पन्न करती है। कोलिक कोढ़ जैसे महान् रोग को उत्पन्न कर देता है। कांटा या लकड़ी का टुकड़ा गले में पीड़ाजनक होता है। कभी बिच्छू शाक आदि किसी वस्तु में मिलकर चला गया तो तालु को वींध देता है। बाल खा लेने से स्वरभंग होता है, गला बैठ जाता है और गले में दर्द भी मालूम होने लगता है।

रात्रि भोजन की यह बुराइयाँ कुछ कम नहीं है। जब इनमें से एक भी बुराई उत्पन्न हो जाती है, तभी उस की भीषणता का पता चलता है।

श्रीरत्नचन्द्रजी स्वामी ने भी यही कहा है:—

जलोदर उत्पन्न हुवे जूं के पडिया पेट।
जाय मुख में मक्षिका, वमन करावे नेट॥
घेट मन तज घेटाई, बाल करे स्वरभंग।
कोढ़ मकड़ी थी थाई॥
कपाली सड़-सड़ मरे बिच्छु केरे सम्बन्ध।
रतन कहे तज मानवी रात्रिभोजन अंध॥

वास्तव में रात्रि भोजन में इतनी अधिक बुराइयाँ हैं कि जैनेतर धर्मों में भी इसका निषेध किया गया है। वे कहते हैं—

नैवाहुतिर्न च स्नानं, न श्राद्धं देवतार्चनम्।
दानं वा विहितं रात्रौ, भोजनं तु विशेषतः॥

रात्रि में होम, स्नान, श्राद्ध, देवपूजा और दान निषिद्ध है। मगर भोजन तो विशेष रूप से वर्जनीय है।

आयुर्वेद शास्त्र का उल्लेख करते हुए उक्त आचार्य महाराज कहते हैं—

हृन्नाभिपद्मसंकोचश्चण्डरोचिरपायत ।
अतो नक्तं न भोक्तव्यं, सूक्ष्मजीवादनादपि ॥

शरीर में दो पद्म होते हैं—हृदयपद्म और नाभिपद्म । हृदयपद्म अधोमुखी और नाभिपद्म ऊर्ध्वमुखी होता है। रात्रि में यह दोनों पद्म सिकुड़ जाते हैं, क्योंकि सूर्य की किरणों का सद्भाव नहीं रहता। अतः रात्रि में भोजन करना उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त छोटे-छोटे जन्तु भोजन के साथ पेट में चले जाते हैं। इस कारण भी निशाभोजन त्याज्य है।

आचार्य रात्रिभोजी मनुष्य की तीव्र शब्दों में भर्त्सना करते हैं—

वासरे च रजन्यां च, यः खादन्नेव तिष्ठति ।
शृङ्गपुच्छपरिभ्रष्टः, स्पष्टं स पशुरेव हि ॥

जो भलामानुस रात-दिन में खाता ही रहता है, वह मनुष्य नहीं पशु है। अन्तर यही है कि पशु के सींग होते हैं और पूंछ होती है, मनुष्य के नहीं। इतना अन्तर होने पर भी आदत से तो वह पशु ही है।

इस प्रकार रात्रि भोजन में इसी जन्म में होने वाली बुराइयाँ बहुतेरी हैं। किन्तु इस अनाचार से पारलौकिक हानि भी होती है। रात्रि भोजन करने वाले लोग अपने परलोक को अंधकारमय बना लेते हैं। आचार्य कहते हैं—

उलूककाक मार्जार गृध्रशम्बर शूकराः ।
अहिवृश्चिकगोधाश्च, जायन्ते रात्रिभोजनात् ॥

अर्थात् रात्रिभोजन के पाप का सेवन करने वाले लोग जब प्राणों का त्याग करके परलोक की ओर प्रयाण करते हैं तो उन्हें उल्लू, कौआ, बिलाव, गीध, शम्बर, शूकर, सर्प, बिच्छू और गोधा आदि की निन्दनीय योनि में जन्म लेना पड़ता है।

रात्रि भोजन का त्याग सभी व्रतों में सहायक होता है और रात्रि भोजन करना सभी पापों का घर है। यह कितना बड़ा पाप है, यह बात एक कथा से समझी जा सकती है।

रामचन्द्रजी जब वनवास के लिए चले तो सीताजी और लक्ष्मण ने उनका साथ दिया। दक्षिण में चलते चलते वे कूबर नगर में पहुँचे। लक्ष्मण ने उस नगर के राजा महीधर की कन्या वनमाला के साथ विवाह किया। मगर उन्हें रामचन्द्र के साथ आगे जाना था। नवविवाहिता पत्नी के मोह में पड़ कर लक्ष्मण अपने महान् कर्त्तव्य का परित्याग नहीं कर सकते थे। मगर वनमाला को इससे बड़ी गहरी व्यथा हुई। उसे विश्वास नहीं हो रहा था कि लक्ष्मण लौट कर आएँगे और मेरी सुध लेंगे। उसने शपथ खाने के लिए कहा। तब लक्ष्मणजी ने कहा—प्रिये! राम जहाँ जाना चाहते हैं, वहाँ उन्हें पहुँचाकर मैं अवश्य तुम्हें सन्तुष्ट करूँगा। न करूँ तो मेरी भी वही गति हो जो हिंसादि पापकर्म करने वालों की होती है।

वनमाला को इतने पर भी विश्वास न हुआ। उसने कहा-नहीं; इससे मुझे सन्तोष नहीं है। अगर आप रात्रिभोजन करने वालों की शपथ लो तो मैं आपको जाने दूंगी, अन्यथा नहीं।

लक्ष्मण ने कहा—अगर मैं अपनी प्रतिज्ञा भंग करूँ, राम को यथास्थान पहुँचा कर तुम्हारे पास न आऊँ तो मैं उस पाप का भागी होऊँ जो रात्रिभोजन करने वालों को होता है।

इस प्रकार शपथ करने पर वनमाला को विश्वास हुआ और उसने लक्ष्मण को जाने की छुट्टी दे दी।

इससे प्रतीत होता है कि रात्रिभोजन कितना बड़ा पाप है।

कई लोग समझते हैं-रात्रिभोजन त्याग श्रावक के लिए मूलगुण न होकर उत्तरगुण है, अतएव रात्रिभोजन का त्याग श्रावक के लिए अनिवार्य नहीं है। मगर ऐसे लोग रात्रिभोजन करने के लिए बहाना खोजते हैं। श्रीदेवर्धि गणि क्षमाश्रमण जैसे महान् आचार्यों ने भी बतलाया है कि रात्रिभोजन त्याग इतना आवश्यक और उपयोगी है कि वह मूलगुणों की ही कोटि में है। यह व्रत किसी एक व्रत की रक्षा के लिए ही नहीं, वरन् सभी व्रतों की रक्षा में सहायक है। अतएव इसे मूलगुण स्थानीय ही समझना चाहिए।

जिस रात्रि-भोजन को जैनशास्त्र और जैनेतर शास्त्र तथा आयुर्वेदशास्त्र भी एक स्वर से वर्ज्य ठहराता है, उसे किसी भी अवस्था में प्रश्रय नहीं देना चाहिए। रात्रिभोजनत्यागी का स्वास्थ्य अपेक्षाकृत अच्छा रहता है और उसका आधी जिंदगी का उपवास हो जाता है।

हाँ, तो जो लोग रात्रिभोजन के त्यागी नहीं है, वे जब भूल से जूं खा जाते हैं तो उन्हें जलोदर की बीमारी का शिकार होना पड़ता है।

दुनियां में कई पुरुष और स्त्रियाँ हैं जिनके पसीने की तासीर ही कुछ ऐसी होती है कि जूं अधिक उत्पन्न होती हैं। किसी-किसी जगह के जल-वायु में भी ऐसी विशेपता होती है। जरा-सी स्वच्छता में कमी आई कि फौरन ही जुएँ उत्पन्न हो जाती हैं। मान लीजिए कोई बहिन रसोई बना रही है। उसके

माथे में खुजली आई और वह माथा खुजलाने लगी। ऐसा करते समय उसके नाखून में जूं भर गई। उसी हाथ से उसने आटा गूंदना आरंभ किया तो जूं आटे में मिल गई। रात्रि में प्रकाश की स्वाभाविक कमी रहने से भोजन करने वाला उसे देख न सका और वह पेट में चली गई। जुंओं की बहुतायत होने से कभी-कभी यों ही वे सिर में से गिरने लगती हैं और भोजन में मिल सकती हैं। इसके अतिरिक्त कोई कपड़े धोने के लिए तालाब पर गया। उसके कपड़े की जूं पानी में चली गई। किसी दूसरे ने पीने के लिए लोटा आदि में पानी लिया और जूं उसमें आगई। फिर उसका पेट में पहुँच जाना साधारण-सी बात है।

तात्पर्य यह है कि जहाँ गंदगी होती है और देख-भाल कर खाने-पीने की सावधानी नहीं रक्खी जाती, वहाँ जूं का पेट में चला जाना कोई कठिन बात नहीं है।

जूं तेइन्द्रिय प्राणी है और छोटा-सा होता है, लेकिन उसके प्रभाव से भी भयंकर बीमारी उत्पन्न हो जाती है। अतएव भगवान् ने कहा है-दिन में भी खाओ तो भी बिना देखे-भाले मत खाओ। दिन में भी बिना देखे खाना रात्रि में खाने के समान है। वह भी अंधा भोजन है। अंधा भोजन प्रत्येक दृष्टि से हानिकारक है। अतएव कहा है—

अंधा भोजन रात को, करे अधर्मी जीव।
थोड़ा जीतव कारणे, दे नरकां में नीव॥

भाइयो! देखो, ज्ञानियों ने रात्रिभोजन को अंधा भोजन कहा है। सूर्यास्त होने के बाद स्पष्ट दिखाई नहीं देता। अतएव रात्रि भोजन बहुत बुरी चीज है। इसी कारण भगवान् ने उसका

त्याग करने के लिए कहा है। बुद्धिमान पुरुष कभी रात्रि में भोजन नहीं करते। अरे, खाने के लिए दिन ही बहुत है, तब रात्रि में भोजन करने से फायदा ही क्या है?

रात में खाने से जीव-जन्तु खाने में आ जाने के अतिरिक्त अजीर्णता आदि अनेक रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं, क्योंकि उस समय पर्याप्त पानी पीने का समय नहीं मिलता। कहा भी है—

चिड़ी कमेड़ी कागला, रात चुगन नहिं जाय।
नर तन धारी मानवी, रात पड्यां किम खाय? ॥

देखो, पक्षियों को रात्रि भोजन के त्याग का उपदेश किसने दिया है? उन्हें कोई उपदेश देने नहीं गया, फिर भी प्राकृतिक प्रेरणा से ही वे रात्रि में चुग्गा चुगने नहीं जाते।

रात्रिभोजन करने से त्रसजीवों की हिंसा का पाप भी लगता है और अनेक अनर्थ हो जाते हैं। किसी ने बैंगन का का आचार डाला और असावधानी से हंडी का मुंह खुला रह गया उसमें एक चूहा गिर गया और मर गया। आचार को हिलाया तो चूहे को भी मसाला लग गया।

एक दिन रात्रि में कोई जीम रहा था। उसने आचार मांगा। हंडिया का मुंह खोलकर चीमटे से आचार निकाला तो संयोगवशात वह चूहा ही आ गया। जीमने वाले की थाली में परोस दिया गया। उसने टटोल कर देखा कि क्या इसका ऊपर का डंठल नहीं तोड़ा गया है? जब गौर करके प्रकाश में देखा गया तो पता चला कि उसके तो चार पैर भी हैं! अरे, यह बैंगन नहीं, ऊंदरा है।

उस समय खाने वाले को कितनी ग्लानि हुई होगी? वास्तव में खाना तो दूर रहा, पहले का खाया-पीया भी निकल गया होगा। रात्रि में क्या दिन की तरह दीखता है? कभी नहीं। अतएव रात का खाना बहुत ही बुरी बात है। दिन में भी खाओ तो बिना देखे कोई चीज़ न खाओ। यह काम बड़ी चौकसी और सावधानी का है। खाते समय बहुत होशियारी रखनी चाहिए।

उत्तम विचारवान् मनुष्य रात्रिभोजन का त्याग होकर देते हैं। रात में खाने से हानि ही हानि होती है, लाभ कुछ भी नहीं होता। कहा है—

मना रात का खाना सरासर है ॥ टेर ॥
चिड़ियां कपोत कव्वे, नहीं रात चुगन जाय।
इन्सान होकर बेहया, तू रात को क्यों खाय? ॥
क्या मनुष्य पशु बराबर है? ॥ १ ॥

देखो भाइयो! रात्रि में चिड़ियाँ, कबूतर और कौवे आदि भी चुगने को नहीं जाते हैं, तो आप तो इन्सान हैं। रात्रि में खाना बिलकुल मना किया गया है। रात्रि में न खाने से बारह महीने में छह महीने की तपस्या बिना जोर लगाये ही हो जाती है। इससे शुभ गति का भी बंध होता है और अशुभ गति का बंध टल जाता है। रात्रिभोजन करने वाले कैसे हैं?

रात्रि में फिरे और खावे,
मनुज वह निशिचर कहलावे।
निशाचर रावण के भाई,
नहीं रघुवर के अनुयायी ॥

रामायण की युक्ति से सिद्ध हुई यह बात ।
यूं जानि श्री राम के, भक्त बनो सब भ्रात ॥

भाइयो ! रात्रि में भोजन करना निशाचर का काम है। ऐसा करने वालों को रावण के मित्रों की उपमा दी गई है। इस लिए रावण के अनुयायी न बन कर रामचन्द्र के अनुयायी बनो। यह रामायण साफ-साफ बतला रही है ! तो फिर क्या करना चाहिए ?

त्याग रावण से मितराई,
तजो निशिभोजन दुखदाई ।
सुगुरु की सीख सुनो भाई ॥

त्याग करो भाइयो, रात्रिभोजन का त्याग करो। रावण की मैत्री छोड़ो-निशाचर पन त्यागो और पुण्य का लेटरबोक्स भर लो। रात्रिभोजन से और क्या-क्या हानियाँ होती हैं ? सुन लो—

पतंग, कीट कुंथवा, भोजन में पड़े आय ।
दीपक की लो पर घूमते, देखो निगाह लगाय ॥
अरे जीव असंख्य चराचर है ॥२॥

देखो रात्रि के समय में और खास कर चौमासे के दिनों में प्रायः दीपक की लौ पर कितने छोटे-छोटे परवाने-जीवड़ा आजाते हैं। ऐसे समय में भोजन करने से भोजन में जीवों का गिर जाना नामुमकिन नहीं है, बल्कि न गिरना ही नामुमकिन हो सकता है। उस समय खाने वाले को क्या पता चल सकता है कि उसने क्या खाया है ! कितने परवाने खाये हैं और कितने मच्छर चट कर लिये हैं। दाल-शाक में मसाले की जगह कितने जीव जन्तु मिल गये हैं !

हम लोग आहार लाते हैं तो कई बार दाल-शाक में लट वगैरह जानवर और रोटी में मक्खी निकलती है। जब हम दिन में खाते हैं और पूर्णतया निरीक्षण करके काम करते हैं, तब तो उन चीजों को निकाल देते हैं मगर रात्रि में खाने वालों का क्या हाल होता होगा, यह तो परमात्मा ही जाने। इसलिए—

कहे चौथमल रात का, तू खाना छोड़ दे।
रोगों की खान जान के, दिल इससे मोड़ दे।
नहीं तो लक्ष चौरासी का बड़ा घर है॥ ३॥

भाइयो! रात में खाना छोड़ दो। इससे कोई लाभ नहीं और हानि ही हानि है। रात्रि भोजन नाना प्रकार की बीमारियों का घर है। इसके अतिरिक्त इस पाप के प्रभाव से चौरासी लाख योनियों में भटकना पड़ता है। इस तरह इस लोक और परलोक, दोनों में ही रात्रिभोजन अत्यन्त अहितकर है।

रात्रिभोजन का त्याग करने में संकोच क्यों है? कठिनाई क्या है? दिन के लम्बे-लम्बे चार प्रहर होते हैं और उनमें भरपेट भोजन किया जा सकता है। फिर रात्रि में भोजन करने की आवश्यकता ही क्या है? अरे, थोड़ी-सी जिंदगी के लिए क्यों रात्रि में खाकर व्यर्थ कर्म बांधते हो?

बहुत गई थोड़ी रही, थोड़ी में थोड़ी जाय।
थोड़ी देर के कारणे, क्यों तू झोला खाय? ॥

विवेकवान् पुरुष, तेरा विवेक किस काम का है? क्या दीपक लेकर भी तू गड्हे में गिरना चाहता है? दीपक का प्रकाश तुझे गड्ढे में गिरने से बचाने के लिए है, न कि गिराने के लिए।

मगर तू तो उस दीपक से उलटा ही काम ले रहा है? दीपक के प्रकाश में तू गिरने के लिए गड्ढा खोजता फिरता है। यह कितने दुर्भाग्य की बात है? अपने विवेक के दीपक के प्रकाश में हित-अहित का निर्णय कर, सन्मार्ग और कुमार्ग का भेद देख और कुमार्ग का त्याग करके सन्मार्ग पर चल। तभी तेरे विवेक की सफलता होगी।

रात्रिभोजन प्रत्येक दृष्टि से हेय है। धर्म की दृष्टि से तो वह बुरा है ही, स्वास्थ्य का भी घातक है।

मार्कण्डेय ऋषि तो यहाँ तक कहते हैं—

अस्तंगते दिवानाथे, आपो रुधिरमुच्यते।
अन्नं मांससमं प्रोक्तं, मार्कण्डेयमहर्षिणा॥

सूर्य छिप जाने के बाद पानी पीना लोहू के समान है और अन्न खाना मांस खाने के समान है।

इस प्रकार सभी ज्ञानी और सभी शास्त्र रात्रि भोजन का एक स्वर से निषेध करते हैं।

रात्रि भोजन निषेध का एक कारण और भी है। श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह भावना भाये बिना भोजन न करे। उसे भोजन से पहले भावना भानी ही चाहिए। कहा है—

प्रथम भाणे बैठे भावना, श्रावकजी नित भावे रे,
चित वित पातर शुद्ध मिले, संसार घटावे रे।
शुद्ध मन भावो रे या खास भावना,
मोक्ष ले जावे रे॥ टेर॥

असली श्रावक के लिए नरक और तिर्यंचगति के द्वार बन्द रहते हैं। अर्थात् श्रावक की क्रिया इतनी ऊँची होती है कि वह मर कर न नरक में जायगा और न जानवर ही बनेगा। क्या आप अपने लिए इन दोनों गतियों के किवाड़ खुले रखना चाहते हैं? अगर नहीं रखना चाहते तो आपको वास्तविक अर्थ में श्रावक बनना चाहिए। श्रावक के कुल में अथवा जैन कुटुम्ब में जन्म ले लेने से ही कोई श्रावक नहीं बन सकता। सच्चा श्रावक वह है जो देशविरति का पालन करता है और अनन्तानुबंधी तथा अप्रत्याख्यानावरण कषाय को जीत लेता है। जो जरा भी व्रत-नियम नहीं करता और रात्रिभोजन करता है, वह वास्तविक श्रावक का दर्जा नहीं पा सकता।

श्रावक भोजन करने बैठे तो उसे ऐसी भावना करनी चाहिए कि कोई सन्त--महात्मा पधारे तो उन्हें दान देकर भोजन करूँ। वैष्णव समाज में भी अतिथिसत्कार का माहात्म्य बतलाया गया है। कहा है—

सर्वेषामभ्यागतो गुरुः।

अतिथि सबसे बड़ा है। 'अतिथिदेवो भव' यह वाक्य तो प्रसिद्ध ही है, जिसमें अतिथि को देवतास्वरूप प्रतिपादित किया गया है। क्यों कि भोजन बनाने में गृहस्थ को बहुत से पापों का सेवन करना पड़ता है, अतः अतिथि को भोजन देने से वे पाप हल्के हो जाते हैं। ऋषियों ने बतलाया है कि अगर तुम उस भोजन में से अतिथि को दान दोगे तो तुम्हारे पाप दूर हो जाएँगे।

तात्पर्य यह है कि श्रावक को भोजन करने से पहले सुपात्र को दान देने की भावना करनी चाहिए और यह भावना रात्रि में

नहीं की जा सकती, क्योंकि सन्त जन रात्रि में न भोजन करते हैं और न भिक्षा के लिए निकलते हैं। सुपात्रदान तो मुनिराजों को दिन में ही दिया जा सकता है। इस प्रकार श्रावक की क्रिया पालने के लिए गृहस्थ को रात्रि में भोजन करने का त्याग करना ही चाहिए।

गाय-भैंस की तरह दिन रात चरते रहने में कोई लाभ तो है नहीं, नुकसान बहुत हैं, जिनमें से कुछ ऊपर बतलाये जा चुके हैं। अतएव—

जिसने किया रात्रि भोजन बंद,
उसका छूट गया चौरासी-फंद।

भाइयो! रात्रिभोजन त्याग किसी सम्प्रदाय विशेष का ही आचार नहीं है। जैसे दया, दान, क्षमा, करुणा, परोपकार, ध्यान स्वाध्याय, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि धर्म साधारण हैं, अर्थात् इन्हें किसी एक सम्प्रदाय का धर्म नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार रात्रिभोजन का त्याग भी एक सामान्य धर्म है। क्या जैनों के लिए और क्या वैष्णवों के लिए, सभी के लिए यह आवश्यक है। जो भी रात्रिभोजन का त्याग करेगा, अपना इहलोक भी सुधारेगा और परलोक भी सुधारेगा। वह अनेक बीमारियों से भी बचेगा और दुर्गति से भी बच सकेगा।

देखो; यह मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्य जन्म की दुर्लभता के लिए किसी शास्त्र का प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है, यद्यपि 'दुल्लहे खलु माणुसे भवे' आदि सैकड़ों प्रमाण इस विषय में दिये जा सकते हैं। जरा आप विचार तो कीजिए कि जगत की लाखों योनियों से बचकर मनुष्ययोनि पा लेना कितना

महत्त्वपूर्ण है ! जब यह दुर्लभ भव आपको मिल गया है तो इससे पूरा लाभ उठा लेना चाहिए। मानवजीवन पाकर ऐसे कार्य करने चाहिए, जिससे फिर कभी अधोगति का मुँह न देखना पड़े और साथ ही यह जीवन यशस्वी बन जाय। इस भव में कोई उंगली उठाकर बुरा कहने वाला न मिले और परभव में भी आनन्द की प्राप्ति हो। याद रखिए, जिसका जीवन यशस्वी है उसी का जीवन सार्थक है। यों तो पशु-पक्षी भी आयु के अनुसार जिंदे रहते हैं, परन्तु अपयश के साथ जीना कोई जीना नहीं है। अतएव इस जीवन को पाकर ऐसे उज्ज्वल कर्म करो कि जिससे आपका जीवन धन्य यशस्वी और पवित्र बन जाय।

भाइयो ! आप यहाँ से खर्ची ले लोगे तो आगे भी पग-पग पर निधान मिलेंगे। रात्रि भोजन का परित्याग करने से यहाँ भी आरोग्य-सुख की प्राप्ति होती है, जीवों की दया पलती है और आगे के लिए खर्ची मिलती है। अतएव रात्रि भोजन का त्याग अवश्य करना चाहिए और त्याग करके उस पर स्थिर रहना चाहिए।

कई लोग संकोच या शर्म से प्रतिज्ञा तो कर लेते हैं, परन्तु उसके पाबंद नहीं रहते। किन्तु प्रतिज्ञा करके उसे भंग कर देना अत्यन्त अनुचित है। उपदेशक का कर्त्तव्य उपदेश देना है। वह उपदेश यदि आपको हितकर प्रतीत होता है तो आप जीवन में उतारिये, उसका व्यवहार कीजिए। पूरा का पूरा जीवन में नहीं उतर सकता तो जितना उतर सके उतना उतारिये और शेष के लिए श्रद्धा रखकर उतारने का प्रयत्न कीजिए। कोई भी प्रतिज्ञा लेने से पहले अपनी शक्ति को नाप लीजिए, परख लीजिए और उसके बाद प्रतिज्ञा ग्रहण कीजिए। कहा है—

जं सक्कइ तं कीरइ, जं च ण सक्कइ तस्स सद्दहणं।
सद्दहमाणो जीवो, पावइ अजरामरं ठाणं ॥

अर्थात्—जितना किया जाना शक्य है, उतना करो। जो शक्ति से बाहर हो, अमल में न आ सकता हो, उस पर श्रद्धा रक्खो, अर्थात् उसके विषय में यह सोचो कि यह कार्य करने योग्य है। इसके करने में मेरा हित है। किन्तु मैं अधन्य हूँ कि मुझसे यह हो नहीं सकता। कब शक्ति उत्पन्न हो और मैं कब करने में समर्थ होऊँ!

इस प्रकार की श्रद्धा और भावना रखने से एक दिन आएगा कि आप उसे भी करने में समर्थ हो जाएँगे। किसी भी व्रत या नियम का अनुष्ठान करने के लिए खास तौर से संकल्प की दृढ़ता ही अपेक्षित रहती है। जब आपके संकल्प में दृढ़ता होगी तो अवश्य ही आपका, सामर्थ्य विकसित होगा और आप अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करने में समर्थ हो सकेंगे।

बहुत-से सोचते हैं—क्या करें, दुकानदारी से फुर्सत ही नहीं मिलती कि रात्रि भोजन का त्याग कर दिन में ही भोजन कर लिया करें। वही ग्राहकों के आने का समय होता है और वही भोजन का समय होता है। ऐसी हालत में कैसे रात्रि भोजन त्यागा जाय? मगर यह तो दुर्बलता ही है मन की; अरे भाई, जो भाग्य में लिखा है, जितना लाभान्तराय का क्षयोपशम है, उतना मिले बिना नहीं रहेगा। कई लोग रात्रि भोजन के त्यागी होते हैं और उनका काम धड़ल्ले के साथ चलता है। बात यह है कि जिस कार्य को अत्यावश्यक समझ लिया जाता है, उसके लिए समय की सहूलियत हो ही जाती है। समयचक्र ही फिर दूसरे प्रकार का बन जाता है।

अधिकांश दिगम्बर भाई रात्रि में भोजन नहीं करते तो क्या उनका व्यापारधंधा ठप्प हो जाता है ? उस समाज में कभी रात्रि में जीमनवार नहीं होता तो क्या कोई काम रुक जाता है ? नहीं। यह तो अपने मन को मनाने की बात है। आपने मन को मना लिया तो कोई रुकावट आड़ी नहीं आएगी और सब काम व्यवस्थित रूप से होते रहेंगे। अतएव आप ऐसे दुर्बल विचारों को छोड़ दें। रात्रि भोजन पाप का कारण है और उसका त्याग पुण्य का कारण है। यह पाप ऐसा है कि बिना किसी कठिनाई के त्यागा जा सकता है। इस पाप से बचने के लिए किसी स्वार्थ को त्यागने की भी आवश्यकता नहीं होती। फिर न जाने क्यों आप ढील करते हैं ?

भाइयो, रात्रि में भोजन न करना लोक में जैन होने का एक विशेष लक्षण माना जाता है। अगर आप इस लक्षण को अपनाएँगे तो आपके परिवार में भी रात्रिभोजन न करने की प्रथा चालू हो जायगी। आपकी सन्तान को अनायास ही एक पाप से बचने की प्रेरणा मिल सकेगी। रात्रिभोजन न करने की प्रतिज्ञा उन्हें जैनत्व का स्मरण कराती रहेगी और वे अनेक पापों एवं दोषों से बच सकेंगे। इस प्रकार रात्रि भोजन का त्याग आपके लिए ही नहीं, आपके परिवार के लिए भी अत्यन्त हितकर और सुखकर है।

कई लोग कहते हैं—महाराज, हम रात्रि भोजन करेंगे नहीं, किन्तु प्रतिज्ञा के बन्धन में नहीं बँधना चाहते। उनका आशय क्या है, यह समझना कठिन है। यदि आपने किसी पाप को न करने का विचार कर लिया है तो फिर प्रतिज्ञा ग्रहण करने में हर्ज क्या है ? अगर आप प्रतिज्ञा नहीं लेते तो समझना चाहिए कि आपके मन में कहीं न कहीं कमजोरी छिपी है। आपका मन

आपको ही धोखा दे रहा है। अन्यथा प्रतिज्ञा के बन्धन को स्वीकार करने से हिचकता क्यों है? संकल्प की दृढ़ता ही प्रतिज्ञा है और प्रतिज्ञा नहीं है तो संकल्प में दृढ़ता भी नहीं है।

कदाचित् यह कहा जाय कि प्रतिज्ञा बन्धन है, अतएव उस बन्धन से बचना ही चाहिए; तो मैं आपसे कहना चाहूँगा कि आप बन्धन का अर्थ ही नहीं समझे हैं। जो बन्धन आपको पाप से बचाता है, जिसके कारण आपकी नैतिकता की रक्षा होती है, कुल की मर्यादा सुरक्षित होती है और जो बन्धन आपकी कीर्त्तिवृद्धि का कारण बनता है, वह आपके सौभाग्य का चिह्न है। वह बन्धन आपके लिए मंगलमय है। उसे अपनाने में अपने को सौभाग्य-शाली समझो।

इस विवेचन से आप भलीभाँति समझ गये होंगे कि प्रत्येक दृष्टि से रात्रिभोजन हेय है और उसका त्याग उपादेय है। अतएव अगर आप त्याग करेंगे तो आपका ही कल्याण होगा। जीवों की दया होगी और आगे की खर्ची भी मिलेगी अर्थात् पुण्य का बंध भी होगा। इसलिए रात्रि भोजन का त्याग जरूर करना चाहिए और उस त्याग पर दृढ़ रहना चाहिए। तीर्थंकर गोत्र उपार्जन करने के बीस बोलों में एक बोल यह भी है कि—लिये हुए त्याग प्रत्या-ख्यानों को शुद्ध रीति से पालते हुए जीव को उत्कृष्ट रसायन आता है तो तीर्थंकर गोत्र का बंध हो जाता है। अतएव जो भाई त्याग करें वे निर्मल रीति, सतर्क रहते हुए उसका पालन करें। इसी में त्याग की सार्थकता है। *

* इस उपदेश का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि बहुत-से भाइयों और बाइयों ने रात्रि भोजन को सदा के लिए तिलांजलि दे दी। त्याग की नदी में बाढ़-सी आ गई। वैष्णव भाइयों ने भी प्रतिबोधित होकर त्याग किया। उस समय व्याख्यानसभा में त्याग की एक लहर-सी उमड़ पड़ी थी।

[illegible] आनन्द की [illegible] होगा।

अजमेर
२८-१०-५३



अनमोल मोती



स्तुति:—

उन्निद्रहेमनवपंकजपुंजकान्ती,
पर्युल्लसन्नखमयूखशिखाभिरामौ ।
पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्तः
पद्मानि तत्र विबुधा परिकल्पयन्ति ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

भगवान् ऋषभदेव जब इस जगतीतल पर विचरण करते थे, तो उनके चरणों के नीचे देवगण भक्तिभाव से प्रेरित होकर स्वर्णमय कमलों के फूलों की रचना करते थे। वे फूल एकदम विक-

सित होते थे और ताजा होते थे, जैसे किसी सरोवर से अभी-अभी लाये गये हों। भगवान के चरण जिस भूभाग पर पड़ते थे, उसी भूभाग पर देवता कमलों की रचना कर देते थे।

आचार्य महाराज ने इस पद्य में जहाँ कमलों की रचना का उल्लेख किया है, वहीं भगवान् के चरणों की अलौकिक शोभा की भी एक झांकी दिखलाई है।

भगवान् के चरणों के नीचे कमलों की रचना तो होती ही थी, परन्तु उनके चरण स्वयं भी कमल ही थे। भगवान स्वयं गौर-स्वर्णिम वर्ण के थे, अतएव उनके चरण कमल भी स्वर्णिम ही थे। उन चरणों की शोभा नखों से निकलने वाली कान्ति से अनेकगुणी बढ़ जाती है। नखों की विमल धवल कान्ति से भगवान् के चरण अतीव रमणीय दृष्टिगोचर होते थे। इस प्रकार प्रभु के चरण-कमलों के नीचे देवनिर्मित कमल ऐसे प्रतीत होते थे जैसे कमल के नीचे कमल बनाये गये हों! उस समय की वह शोभा कितनी अद्-भुत रही होगी।

भगवान् आदिनाथ की भक्ति करने वाले वे देवगण भी धन्य हो गये! स्वर्ग के निवासी देव, स्वर्गीय सुखों को त्याग कर इस भूमि पर विचरण करने वाले तीर्थंकर भगवान् की भक्ति के लिए आते थे। वह समय कितना अपूर्व था! तीर्थंकर भगवान् के प्रकृष्ट पुण्य के प्रभाव का कहाँ तक वर्णन किया जाय? जो उत्कृष्ट-तम पुण्य के प्रभाव से देवों के भी पूज्य बने, उन आदिदेव भगवान् ऋषभदेव को ही हमारा बार-बार नमस्कार है।

यह देवों द्वारा पुष्पों की रचना होना और किंकर की तरह सुरेन्द्रों एवं असुरेन्द्रों का सेवा में उपस्थित रहना असाधारण पुण्य का ही फल है। भगवान् ने तीर्थंकर नामकर्म नामक महान्

पुण्यप्रकृति का बंध किया था। उसके ही फलस्वरूप उन्हें यह लोकोत्तर दिव्य विभूति प्राप्त हुई। यह जीव उत्कृष्ट पुण्यकर्म उपार्जन करे तो तीर्थंकर बन जाता है। तीर्थंकर भगवान् उसी भव में मुक्तिलाभ करते हैं और फिर कभी जन्म नहीं लेते। जन्म-मरण का यह जो अनादिकालीन प्रवाह निरन्तर प्रवाहित हो रहा है, यही संसार कहलाता है। इसी को भवप्रपंच कहते हैं। यद्यपि आत्मा स्वभाव से नित्य, अमर्त्य, अजन्मा और विराट् विज्ञान का असीम पुंज है और जन्म-मरण करना उसका स्वभाव नहीं है, तथापि कर्मदोष के कारण उसे जन्म–मरण के चक्र में फँसना पड़ा है। इस चक्र से अपने आपको बाहर निकाल लेना ही मोक्ष है और इसके लिए जो पुरुषार्थ किया जाता है, वही साधना कहलाती है। एक बार आत्मा को जब अपने शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है, तो फिर उसमें कभी अशुद्धता नहीं आती। वस्तुतः कर्म के कारण ही कर्मों का बंध होता है। जो अकर्मा बन गया, उसके लिए बंध का कोई कारण ही नहीं रह गया।

जीव का वास्तविक स्वरूप क्या है, किस कारण से उसमें विकृति आई है, किस प्रकार कर्मों का नवीन बंध होता है, उसके निरोध का उपाय क्या है, पूर्वसंचित कर्मों को किस विधि से पृथक् किया जा सकता है और कर्मों का सर्वथा पृथक्भाव होने पर आत्मा की क्या स्थिति होती है, यही सब अध्यात्म शास्त्र की विचारणा का विषय है। जैन साहित्य में इन विषयों पर बड़े ही सुन्दर ढंग से और अत्यन्त विशद रूप से विवेचन किया गया है। इस समय इन प्रश्नों पर प्रकाश डालने का अवसर नहीं है। यहाँ तो सिर्फ यही कहना पर्याप्त होगा कि मुमुक्षु जीवों के लिए यह प्रश्न बड़े महत्त्व के हैं। इनका ज्ञान हुए बिना आत्मा का कल्याण नहीं होता। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि यह ज्ञान ही सारभूत

ज्ञान है। अतएव आपको यह विषय समझने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए दो ही उपाय मुख्य हैं:—आध्यात्मिक साहित्य का सावधानी और शान्ति के साथ स्वाध्याय, मनन, चिन्तन और पर्यालोचन करना और अध्यात्मवेत्ता सन्तों की उपासना करना ।

मगर इस उपादेय ज्ञान को प्राप्त करने का अवकाश ही आपको कहाँ है? आज लोगों का जीवन इतना अध्यात्मविमुख और भूतसन्मुख हो गया है कि वे बाह्य प्रपंचों में ही अपना सारा समय बर्बाद करते हैं। आत्मा के संबंध में सोचने-समझने के लिए उनके दैनिक कार्यक्रम में कोई समय नहीं है।

धन सम्पत्ति और इन्द्रियों के भोगसाधन जुटाने में जीवन के अन्तिम श्वास तक संलग्न रहने वाला मनुष्य कितना दया का पात्र है! जानता है कि आगे परलोक में इनमें से एक भी वस्तु काम आने वाली नहीं है, फिर भी आंखों को बन्द करके उन्हीं के पीछे पड़ा है !

शास्त्र स्पष्ट शब्दों में चेतावनी दे रहा है—

अच्चेइ कालो तूरंति राइओ,
न यावि भोगा पुरिसाण णिच्चा ।
उविच्च भोगा पुरिसं चयंति,
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥

जागो, भव्य जीवो! जागो; स्वर्ण-अवसर क्षण-क्षण करके बीता जा रहा है। दिन-रात बड़ी तेजी के साथ व्यतीत हो रहे हैं। समय कभी भी नहीं थमता। देखो, तुम जिन भोगोपभोगों के लिए प्रत्येक पाप करने को उद्यत रहते हो, और जिनके लिए जीवन

हार रहे हो, वे नित्य नहीं है। कभी किसी भी क्षण वे पुरुष को छोड़ जाते हैं। कई बड़े-बड़े लखपति आज दरिद्र दिखाई दे रहे हैं। जो बहुत विशाल परिवार के धनी थे, आज ठूंठ की तरह एकाकी भटक रहे हैं कदाचित् धन और जन छोड़कर नहीं जाते तो मनुष्य को ही उन्हें छोड़कर चला जाना पड़ता है। चाहे पुरुष भोगों की सामग्री को छोड़ कर परलोक की ओर प्रयाण करे, चाहे सामग्री उसे छोड़ कर चली जाय, परिणाम एक ही है कि जिन भोगोपभोगों को जुटाने के लिए मनुष्य धर्म का परित्याग करता है, पापों का सेवन करता है, दिन-रात आर्त्तध्यान किया करता है, क्षण भर शान्ति और निराकुलता नहीं भोग सकता, उनका वियोग अवश्यंभावी है। इसलिए अर्थ का उपार्जन करते हो तो धर्म को मत भूलो। थोड़ा-सा समय आत्मकल्याण में भी लगाओ। वही भविष्य में हितकारी सिद्ध होगा।

भाइयो! तीर्थंकर भगवान् की असाधारण महिमा सुन कर तुम भी पाप का द्वार रोक कर पुण्य का उपार्जन करो। अगर उत्कृष्टतम पुण्य उपार्जन करोगे तो तीर्थंकर की पदवी पा लेना भी असंभव नहीं है।

तीर्थंकर कौन होता है? जगत् में अनन्त जीव हैं। उनमें जो ऊँचे नंबर की करनी करता है, वह तीर्थंकर बन जाता है। एक राजा देह त्याग कर जाता है तो उसका उत्तराधिकारी गादी पर बैठता है। इसी प्रकार जिसे तीर्थंकर पदवी पाने की शक्ति प्राप्त हो जाती है, वही तीर्थंकर बनता है।

तीर्थङ्कर का पद सर्वोच्च पद है, संसार में इससे ऊँचा अन्य कोई पद नहीं है। इस पद के मिलने से अनन्त जीवों को अभय-दान मिलता है। अनेक जीवों का हित होता है। जगत् में धर्म

शासन की व्यवस्था होती है और सत्य वस्तु स्वरूप प्रकाशित होता है। तीर्थङ्कर भगवान् मोक्षमार्ग का उपदेश देकर कितने ही जीवों को तार देते हैं। तीर्थङ्कर भगवान् की वाणी प्राणीमात्र का कल्याण करने वाली होती है।

भगवान की वाणी में अनुपम माधुर्य और असाधारण आकर्षणशक्ति होती है। जैसे मोहनीय कर्म जीवों को संसार एवं विषयों की ओर आकर्षित करता है, उसी प्रकार तीर्थङ्कर भगवान् के वचन मुक्ति की ओर आकर्षित करने वाले होते हैं। सुन्दर शब्द सुनने में आते हैं तो कानों को कैसा आकर्षण होता है! यदि मनोज्ञ वस्तुएँ देखने को मिल गई तो आँखों को कितना भला मालूम होता है! गंध की तरफ नाक का कितना झुकाव होता है। स्वाद के लिए जीभ कैसी तड़फती रहती है। और स्पर्श के लिए स्पर्शेन्द्रिय कितनी लालायित रहती है। तो जैसे मोहनीयकर्म जीव को विषयों और विकारों की ओर आकर्षित करता है, उसी प्रकार तीर्थङ्कर देव की देशना भव्य जीवों को धर्म की ओर आकृष्ट करती है।

तीर्थंकर भगवान् भव्य प्राणियों को सत्यमार्ग पर स्थापित कर देते हैं। वह वाणी आक्षेपणी कथा कहलाती है। जगत् में अनेक प्रकार के भ्रम फैले हैं, अनेक प्रकार के भ्रमपूर्ण सिद्धान्त प्रचलित हैं, गलत धारणाएँ बनी हुई हैं, उनका निवारण करना विक्षेपणी कथा है। गलत चीज की बुराई समझाये बिना सही बात पर विश्वास नहीं जमता। अतएव भगवान् को नाना प्रकार की मिथ्या धारणाओं का निवारण करना आवश्यक होता है। जीव को सत्य की ओर खींचना बड़ा ही कठिन कार्य है, क्योंकि इस जीव को अनन्त काल से परपदार्थों में रमण करने और आनन्द मानने की आदत पड़ी हुई है। इसे मिथ्यात्व बड़ा भला लगता है।

'माल खाना और वैकुन्ठ जाना' वाली कहावत दुनिया में चरितार्थ हो रही है। यह बात सब को पसंद है। खाते, पीते और मौज करते-करते ही अगर मोक्ष मिल जाय तो फिर कहना ही क्या है! किन्तु याद रखिए, विषयविकारों में गृद्धि धारण करने से आत्मा का भला होने वाला नहीं है। भोग अन्त में दुःख के कारण ही होते हैं। संसारी जीव का कितना बड़ा मोह है कि वह दुखदायी विषयभोगों की ओर बड़ी तीव्रता से आकर्षित होता है और उन्हें सुखदायी समझता है, तथा व्रत, नियम, संयम और धर्म को कष्टकर समझ रहा है। चक्रवर्त्ती राजा के सामने एक अकिंचन अनगार ने बड़ी दृढ़ता के साथ कहा—

बालाभिरामेसु दुहावहेसु,
न तं सुहं कामगुणेसु रायं।
विरत्तकामाण तवोधणाणं,
जं भिक्खुणं सीलगुणे रयाणं॥

अज्ञानी जीवों को रमणीक प्रतीत होने वाले और परिणाम में दुःख देने वाले कामभोगों में वह सुख नहीं है, जो शील-गुणों में निरत और समस्त कामभोगों से विरत तपोधन भिक्षुओं को प्राप्त होता है।

एक ओर चक्रवर्त्ती का वैभव है, जिसकी बराबरी किसी भी राजा के वैभव से नहीं हो सकती। जो चौदह रत्नों का और नौ निधियों का स्वामी है, हजारों सुन्दरी युवतियाँ जिसके अन्तःपुर में निवास करती हैं और हजारों देव जिसकी सेवा करते हैं। दूसरी ओर एक अकिंचन अनगार है। संसार का कोई भी वैभव उसके पास नहीं है। तपस्या ही उसका धन है। वह

नहीं है। भिक्षा से उदरनिर्वाह करता है। किन्तु काम-भोगों की तनिक भी आकांक्षा उसके चित्त में नहीं है। वह उन्हें अधःपतन का कारण समझता है और परिणाम में अत्यन्त दारुण समझ कर उनसे विरत हो चुका है। इस प्रकार एक तरफ भोग की चरम सीमा है और दूसरी तरफ त्याग की चरम सीमा है। अब प्रश्न यह है कि वास्तव में दोनों में सुख अधिक कहाँ है?

हम देखते हैं कि किसी भी मुनि ने मुनित्व का त्याग करके चक्रवर्त्ती होना स्वीकार नहीं किया। यह स्थिति स्पृहणीय तो कम से कम नहीं ही समझी जाती। परन्तु चक्रवर्त्ती अपने वैभव का परित्याग करके मुनि बनते हैं और मुनि बनने में अपना परम सौभाग्य समझते हैं। यदि मुनिदशा में सुख न होता तो चक्रवर्त्ती राजा भी मुनि बनने की आकांक्षा क्यों करते? मुनि के लिए यह दुःखमय जगत भी आनन्दमय बन जाता है। मुनि को न राजा का भय रहता है, न चोर का भय और न आजीविका का भय। वह सभी भयों से विमुक्त होकर आत्मानन्द में विचरण करता है।

तो यह निश्चित है कि भोग अन्त में दुःख के ही कारण सिद्ध होते हैं। जिसने अपने जीवन में आत्मा के श्रेयस् के लिए कुछ भी साधना नहीं की और जो भोगों की कीचड़ में ही फँसा रहा है, उसे जीवन के अन्त में, मृत्यु के समय, घोर दुःख, परिताप और व्यथा होती है। इस प्रकार किसी भी बाह्य पदार्थ को लेकर विचार कीजिए, अन्त में दुःख ही दुःख है। जब तक धन है तब तक मनुष्य सुख का अनुभव करता है, किन्तु जब वही धन चला जाता है तब कितना दुःख होता है! सुन्दर मकान रहने को मिल जाय तो सुख प्रतीत होता है, मगर उसमें आग लग जाय तो दुःख का पार नहीं रहता। कहने का आशय यही है कि संसार की

प्रत्येक वस्तु परिणाम में दुखदायी सिद्ध होती है। यह होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि जितना भी संयोग है, सब वियोग के लिए है। कोई भी संयोग शाश्वत नहीं है। जब उस संयोग का अन्त होता है तो संयोग में सुख मानने वाले को दुःख अवश्य होता है।

दुनिया नाना प्रकार के भोगों में फँस रही है। धर्म का तो नाम लेती है, क्यों कि धर्म का नाम मीठा होता है, लेकिन उसके मीठे नाम से जगत जाल में जल्दी फँस जाती है। कोई कहता है बाबा, दो आने के पैसे दे दो, तम्बाखु पीना है; तुमको धर्म होगा! तो सुनने वाले को धर्म का नाम प्यारा लगता है और वह झट दो आने निकाल कर दे देता है। मगर देने वाले को यह विचार शायद ही आता है कि यह दुर्व्यसन का पोषण कर रहा है। इसमें धर्म नहीं, अधर्म है।

इस प्रकार कई लोग तो धर्म के नाम पर भी भोगों में फँसे हुए हैं। वे भाँति-भाँति के भोगों में ही सुख मान रहे हैं। मगर यह सब अज्ञान है, भ्रम है, दंभ है, वंचना है।

असल बात तो यह है कि अधिकांश लोग वास्तविक सुख के स्वरूप को ही नहीं समझते हैं। जैसे कुत्ता प्राप्त हुई हड्डी को चाटता है। हड्डी की किरच लगने से उसके मसूढ़ों में से रुधिर निकलता है और वह उस रुधिर को हड्डी में से निकलने वाला समझकर चाटता और आनन्द मानता है। वह समझता है कि यह स्वाद हड्डी में से आ रहा है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव समझ रहे हैं कि सुख भोगों में है। परन्तु उनकी धारणा मिथ्या है। सुख पुद्गल का गुण ही नहीं है। वह तो आत्मा का गुण है और आत्मा में ही रहता है। आत्मा के सुख गुण के विकार को सुखाभास को लोग पुद्गल जनित सुख समझते हैं। ज्ञानी पुरुष कहते हैं—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः।
तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः
कालो न यातः वयमेव याताः॥

अर्थात् यह जीव भोगों को नहीं भोगता है, परन्तु भोग ही जीव को भोग लेते हैं। भोगों के लिए अपना जीवन निछावर करने वाले भोग नहीं भोगते, वास्तव में में भोग ही उसके जीवन को भोगकर समाप्त कर देते हैं। जीव सोचता है–मैं पांच वर्ष में हजारपति से लखपति बन गया, मगर धन कहता है–मैंने इसके अनमोल जीवन के पाँच वर्ष खत्म कर दिये!

जीव कहता है-तीन वर्ष के भीतर मैंने कितनी सुन्दर हवेली बना डाली! मगर हवेली से पूछो तो वह कहेगी-मैंने इस नादान मनुष्य के जीवन के तीन वर्ष बर्बाद कर दिये!

भाई, जिस दृष्टिकोण से तू अभी तक सोचता आरहा है, वह दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण है। तू नवीन दृष्टिकोण को ग्रहण कर और नये सिरे से सोच कि–संसार का वैभव तेरे लिए है अथवा तू उस वैभव के लिए है! यदि तू इस वैभव के लिए ही समग्र जीवन समर्पित किये है तो निश्चय ही तू वैभव के लिए है! अन्त में तेरा वैभव ही तेरी दुर्दशा पर हँसेगा और तू बुरी तरह पश्चाताप की ज्वालाओं में जलेगा। तेरा कुछ भी न होगा; सिर्फ वैभव को इकट्ठा करने के लिए किये गये पाप तेरे साथी होंगे।

मनुष्य कहता है—दिन व्यतीत हो गया, रात्रि चली गई, वर्ष समाप्त हो गया, युग खत्म हो गया! परन्तु भले मानुस! काल कहाँ बीतता है! 'कालो यं निरवधिः।' यह काल तो

अनन्त है, कभी समाप्त होने वाला नहीं। दिन के बाद रात्रि और रात्रि के बाद दिन होता ही रहेगा। समाप्त हो रहा है तेरा जीवन! इस प्रत्यक्ष सत्य की ओर से तूने क्यों नेत्र मूंद रक्खे हैं! बालकपन गया यौवन आया। यौवन भी चला गया और बुढ़ापा आ गया। देखते-देखते सारा रंग बदल गया। यह तेरी ही अवस्थाएँ बदली हैं। इसी प्रकार एक दिन आएगा कि टिकिट कट जायगा। बन्धु, यह कितना सुन्दर समय जा रहा है? कैसा उत्तम जीवन व्यर्थ व्यतीत हो रहा है? यह जीवन इतना सुलभ नहीं कि अनायास ही फिर हाथ लग जाय!

यो भव रत्न चिन्तामणि सरीखो!
वार वार नहीं मिलसी रे।
चेत सके तो चेत रे प्राणी
यो संसार असारो रे ॥ १ ॥

अरे, मानव जीवन चिन्तामणि से भी अधिक मूल्यवान् है। सच तो यह है कि इसका कोई मूल्य नहीं है। सारा जगत् का वैभव एक ओर और मानवजीवन दूसरी ओर हो तो भी मानव-जीवन का ही पलड़ा भारी होगा। नौ घाटियों में भटकते-भटकते यह जीवन मिला है।

एक मनुष्य एक हजार रुपया लेकर कमाई करने के लिए निकला। वह अपने कुटुम्बियों से कह गया कि अन्तराय कर्म टूटेगा तब आनन्द के साथ वापिस आऊँगा। यह कह कर वह चल दिया।

वह मनुष्य चलते-चलते उस मुल्क में जा पहुँचा जहाँ बसरा खाड़ी है और जहाँ मोती उत्पन्न होते हैं। वहाँ मोती निका-

लने वाले लोग रहते हैं। वे गोताखोर कहलाते हैं। जो कोई उनसे गोता लगाने को कहता है, उससे वे एक बार गोता लगाने के सौ रुपया पेशगी ले लेते हैं। फिर गोता मार कर समुद्र की तलभूमि में जाते हैं और सीपें उठा कर ले आते हैं। सीप में मोती निकले तो उसका भाग्य और न निकले तो भी उसका भाग्य !

गोता लगाना कोई साधारण बात नहीं है। उसके लिए बड़ा साहस चाहिए। गोताखोर जान हथेली पर रख कर गोता लगाते हैं। इस पापी पेट के लिए मनुष्य को क्या-क्या नहीं करना पड़ता !

हाँ, तो उस पुरुष ने वहाँ पहुंचकर गोताखोरों से कहा—अच्छा, एक गोता मेरी ओर से भी लगाओ। मैं अपनी तकदीर आजमाना चाहता हूँ। पुण्य का उदय होगा तो कुछ मिल जायगा।

यह भी एक प्रकार का सट्टा है। भाग्य की परीक्षा जैसे सट्टे में होती है, उसी प्रकार इसमें भी होती है।

सौ रुपये लेकर गोताखोर पानी की तह में गया और मुट्ठी भर सीप लेकर तैरता हुआ किनारे आ गया। पानी में से निकल कर उस पुरुष के सामने मुट्ठी खोली। मगर भाग्य की बात कि उनमें से एक में भी मोती न निकला।

उस आदमी ने सोचा—सौ रुपये और लगेंगे। शायद इस बार तकदीर खुल जाय और कुछ मिल जाय।

दूसरी बार गोताखोर ने गोता लगाया और मुट्ठी भर सीपें फिर दी, मगर भाग्यदेव रूठे ही रहे।

भाइयो ! भाग्य में न हो तो लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं मिलता। नीतिकार कहते हैं—

भाग्यं फलति सर्वत्र, न विद्या न च पौरुषम् ।

अर्थात्—सब जगह भाग्य ही फलदायी होता है। न विद्या काम आती है और न पुरुषार्थ काम आता है।

यह वचन सुनकर आप ऐसा न समझ लें कि पुरुषार्थ और विद्या वेकार हैं और जो कुछ है सो भाग्य ही है। यह तो एक दृष्टि है। असल बात यह है कि कार्य की सिद्धि अनेक कारणों पर निर्भर करती है, अन्तरंग कारण भी चाहिए और बहिरंग कारण भी चाहिए। धन प्राप्ति का अन्तरंग कारण लाभान्तराय कर्म का क्षयोपशम है और बहिरंग कारण पुरुषार्थ आदि है। इनमें से एक भी कारण की कमी हो तो धनप्राप्ति नहीं होती। उपर्युक्त कथन अन्तरंग कारण की प्रधानता की अपेक्षा से है सब अपेक्षाओं से नहीं।

हाँ, तो उस मनुष्य ने निराश न होकर तीसरा गोता लगवाया, मगर फिर भी कुछ हाथ न लगा। चौथे और पाँचवें गोते में भी कोई सफलता न मिली। छठा गोता भी व्यर्थ सिद्ध हुआ। सातवाँ और आठवाँ गोता भी खाली गया।

वह मनुष्य भी पक्के कलेजे का था। उसने सोचा-जब आठ सौ रुपया समुद्र में फेंक दिये तो सौ और सही। कदाचित् यह रुपया उन्हें भी सफल बना दें! संभव है, इस बार भाग्य प्रसन्न हो जाय! यह सोचकर उसने नौवाँ गोता लगवाया, मगर हाय री तकदीर, न चेती सो नहीं ही चेती! उसके मन में निराशा जाग गई। मगर वह निराशा थोड़ी देर तक ही रही। उसने सोचा घर से एक हजार की पूंजी लेकर चला था, उसमें से एक सौ शेष रहे हैं। कहीं यह भी चले गये तो कैसी बीतेगी? मगर जब नौ सौ चले गये तो एक सौ रखकर ही क्या करूँगा। जो होगा देखा जायगा।

इस प्रकार निश्चय करके उसने शेष सौ रुपये भी दाव पर लगा दिये। गोताखोर सागर की असीम जलराशि में प्रविष्ट हुआ और उसे चीरता हुआ, तल तक जा पहुँचा। इस बार उसने दूर तक टटोला, बड़ी मिहनत की और एक जुड़ी हुई सीप लेकर ऊपर आया। बोला—यह लो भाई, अपना भाग्य आजमाओ।

सीप को चीरा गया तो उसमें से एक ऐसा सुन्दर मोती निकला कि वह सर्वोत्कृष्ट जाति का प्रमाणित हुआ। उसे देखकर गोताखोर ने कहा–भाइ, मुझे गोता लगाते बहुत वर्ष हो गये, मगर इतना बढ़िया मोती मैंने कभी निकला नहीं देखा। ऐ मुसाफिर! मालूम होता है कि तेरी तकदीर खुल गई। हम कहते हैं कि यह बहुत ऊँची जाति का मोती है, मगर ठीक कीमत नहीं जानते। इस पर तेरा भविष्य निर्भर है। इस मोती को किसी ईमानदार आदमी को दिखलाना। किसी बेईमान के हाथ पड़ गया तो वह बड़ी सफाई के साथ बदल लेगा।

उस मनुष्य के हर्ष का पार न था। वह मोती को लेकर एक बड़े नगर में पहुँचा। बाजार में चक्कर काटते-काटते उसे एक बड़ी दुकान दिखाई दी उसमें मोटे-मोटे गद्दे बिछे थे उस पर सेठजी आराम से बैठे थे। उसने सोचा–अगर यह सेठजी जौहरी होंगे तो मेरे मोती की परीक्षा हो जायगी।

यह सोचकर वह दुकान पर गया और जय रामजी या जयजिनेन्द्र कह कर बैठ गया। सेठजी के पूछने पर उसने घर से निकलने से लेकर अपनी यात्रा का पूरा वृत्तान्त सुनाया और मोती दिखलाया।

सेठजी जौहरी थे। मोती को देखकर बोले–यह मोती बहुत उच्चकोटि का है। मैं पराये धन को मिट्टी के समान समझता हूँ।

अनीति का एक पैसा भी लेना नहीं चाहता। आखिर तो मुझे भी सब कुछ यहीं छोड़कर और पाप-पुण्य साथ लेकर जाना है। भाई, आप इस मोती को सँभाल कर रखना। शरद्पूर्णिमा के दिन इसकी परीक्षा करना। इतने दिन ठहरना तो पड़ेगा, मगर ठहरना ही उचित है। आप मेरी हवेली में ठहर सकते हैं। भोजन आदि का कोई कष्ट न होगा।

सेठ ने मन में सोचा-यह मोती बड़ा ही कीमती है। मेरी सारी सम्पत्ति और हवेली की कीमत भी इस मोती के बराबर नहीं। अहा, यह कैसा पुण्यवान् जीव है कि ऐसा बहुमूल्य मोती इसके हाथ आया!

भाइयो! वह सेठ कितना धर्मात्मा और पुण्यात्मा था, जिसने बड़े प्रलोभन को त्याग कर सत्य बात कह दी।

दुनिया में कई तरह की दुकानें हैं और इसी प्रकार कई तरह के साधु हैं। कोई-कोई तो मनुष्य-जमारे को ठग ही लेते हैं। वे गांजा पीना सिखा देते हैं और दुर्व्यसनी बना देते हैं।

जब हम संसार में थे तो दो जीवों को वैराग्य हुआ-मुझको और एक दूसरे को। दोनों को ही साधु बनने की अनुमति नहीं मिली। दूसरा जाकर मसानिया बाबा का चेला बन गया और ओघड़पंथी बनकर ऐसा बिगड़ा कि कुछ न पूछो। और सद्भाग्य से कुछ दिन बाद मुझे हीरालालजी महाराज जैसे सद्गुरु मिल गये। उनकी असीम कृपा से मैं सन्मार्ग पर लग गया।

अपने जीवन को सद्गुरु के ही हाथ में सौंपना चाहिए। सद्गुरु मनुष्य को ऐसे मार्ग पर लगाते हैं कि उसे घर छोड़ने का आनन्द आ जाता है। जीवन सफल हो जाता है। सद्गुरु के बिना कौन सही रास्ता बता सकता है?

मेरे उस साथी ने घर छोड़ा तो मसानिया बाबा का चेला हो गया। एक बार जब नीमच में मेरा चौमासा हुआ तो वह भी शहर के बाहर मठ मे ठहरा हुआ था। समाचार पाकर वह मेरे पास आया और बोला-मुझे इस वेष में ले लो। मैं भी अब जैन साधु बन जाना चाहता हूँ।

मैंने कहा-भाई इस भेष की रीति तुझसे नहीं निभ सकती। गांजा पी-पीकर तूने अपनी आँखें बिगाड़ ली है।

वह अच्छे ठिकाने का आदमी था और साधारण पढ़ा-लिखा भी था। नत्थू उसका नाम था। लेकिन कुसंगति में पड़ कर वह बर्बाद हो गया। न इधर का रहा, न उधर का रहा। न गृहस्थ का सुख भोग सका, न आत्मसाधना करके परलोक ही सुधार सका। उसे यों हीं मृत्यु का भोग बनना पड़ा।

वास्तव में कुसंगति मानवजीवन के लिए बहुत बड़ा अभिशाप है। कई लोग सोचते हैं कि मेरा आचार-विचार बहुत पक्का है और उस पर दूसरे का असर नहीं पड़ सकता, तथापि वे भ्रम में रहते हैं। प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में संगति का प्रभाव पड़ता ही है। अतएव कहा गया है—'गुरु कीजे जान के और पानी पीजे छान के।' पानी छान कर नहीं पिया जायगा तो पानी के साथ कई विषैले जानवर पीने में आ जाने की संभावना है और उससे अनेक बीमारियाँ उत्पन्न हो सकती हैं।

तात्पर्य यह है कि यह जो मनुष्य जीवन आपको मिल गया है तो इसका सदुपयोग करो। इस जीवन को अपने लिए बहुत बड़ी न्यामत समझो। यह जीवन इतनी ऊँची कोटि का है कि देवता भी इसके लिए तरसते हैं और इसे पाने की कामना करते हैं। अपने को बड़भागी मानो कि किसी पुण्य के उदय से यह

आपको मिल गया है, इससे पूरा लाभ उठा लो। इसका लाभ यही है कि आत्मा के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करो और ऐसी साधना एवं करनी करो जिससे आत्मिक विकार दूर हो जाएँ।

धन-वैभव अनेक बार मिला है और मिल भी सकता है, परन्तु धर्म की प्राप्ति बड़े सौभाग्य से होती है। मनुष्य-जीवन के साथ वीतरागधर्म मिल जाना एक अपूर्व अवसर मिल जाना है। जो इस अवसर से लाभ नहीं उठाता उससे बढ़कर कोई अभागा नहीं हो सकता।

किन्तु बड़े खेद की बात है कि अधिकांश मनुष्यों को विवेक के अभाव के कारण सही स्थिति का भान नहीं होता। कांच के महल के भीतर कोई कुत्ता घुस जाय तो उसे चारों तरफ कुत्ते ही कुत्ते नजर आते हैं। वह जिस तरफ दृष्टि डालता है, उसी तरफ कुत्ता ही देखता है। उसे देखकर वह भौंकता है तो कांच में प्रतिबिम्बित कुत्ता भी भौंकता मालूम होता है। वह गुस्से में आकर दांत निकालता है तो कांच में भी दांत निकालता हुआ ही कुत्ता देखता है। यह देखकर वह पागल हो उठता है। व्याकुल हो जाता है और परेशान होता है। वास्तव में वह स्वयं ही परेशान होता है, अपने अज्ञान के कारण ही वह दूसरे कुत्ते की कल्पना कर लेता है।

इसी प्रकार मनुष्य भी अपने अज्ञान की बदौलत ही कष्ट और संताप पाता है। मनुष्य भूल से समझता है कि दूसरे लोग मुझे कष्ट देते हैं, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि कोई किसी को दुःख-सुख नहीं दे सकता। अपने-अपने कर्म ही सब भोगते हैं।

इस प्रकार विचार करके मनुष्य जब धैर्य के साथ कष्ट सहन कर लेता है तो उसे उतनी व्याकुलता नहीं होती और आगे

के लिये अशुभ कर्मों का बंध भी नहीं होता। अतएव मनुष्य को समझना चाहिए कि जैसे उस कुत्ते की परेशानी का कारण दूसरा कोई नहीं, स्वयं वही है, इसी प्रकार मैं अपने सुख-दुःख का कारण स्वयं ही हूँ, दूसरा कोई नहीं। मैं अपने अज्ञान के कारण ही दुःखी होता हूं।

जिसे सद्गुरु का समागम मिला है, वही इस प्रकार का विवेक व्यवहार में ला सकता है।

तो उस जौहरी को सत्संगति के प्रभाव से विवेक प्राप्त हो गया था। इसी कारण वह उस मोती को देखकर और उसके महत्त्व को समझ कर भी नीति के मार्ग से नहीं गिरा। उसने मोती वाले उस मनुष्य से कहा-भाई, इसे बड़े यत्न से सँभाल कर रखना। शरदपूर्णिमा के दिन इसकी परीक्षा करना।

सेठ ने ही उस मोती को सँभाल कर रख लिया। यह बात उन दोनों के सिवाय किसी तीसरे को मालूम नहीं थी। यथा समय शरदपूर्णिमा आ गई। सेठ ने २५ मन लोहा इकट्ठा किया और उसे सोच विचार कर एक विशेष ढंग से छत पर जमा दिया। सबके ऊपर वह मोती रक्खा। दोनों वहीं बैठ गये।

इतने में पूर्व दिशा से चन्द्रमा का उदय हुआ और मोती पर उसका प्रतिबिम्ब पड़ा। मोती पर चन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ते ही मोती की परछाई पश्चिम की ओर पड़ी। पश्चिम की ओर जितना लोहा था वह सब सोना बन गया। इस प्रकार जिधर-जिधर मोती की परछाई पड़ती गई, उधर-उधर का लोहा सोना बनता गया। रात भर में वह पचीस मन लोहा सब सोना बन गया। सोना भी ऐसा कि पीला जर्द कि क्या पूछना है! शरद् स्वर्ण के मुकाबिले की धातु ही कौन-सी है!

सेठ ने उस मोती के मालिक से कहा—देख लिया आपने मोती का चमत्कार ! यह भेद किसी को न देना और लाख मन लोहे का भी सोना बनाना हो तो इसी प्रकार बना लेना ।

उसने अतीव कृतज्ञता के साथ कहा—आपने मेरा बड़ा उपकार किया है । परन्तु मैं इस सोने का क्या करूँ ?

सेठ ने कहा—यह आपका है । जो आपकी इच्छा हो सो कर सकते हैं ।

वह बोला—मैं इसे लेकर नहीं जा सकता । जाऊँगा तो रास्ते में ही टुकड़े-टुकड़े हो जाऊँगा ।

भाई, नोट तो छिपाये जा सकते हैं, फिर भी कई बार जेब कट जाती है तो २५ मन सोना कहाँ छिपाया जा सकता है ? इसके पीछे तो जिंदगी से ही हाथ धोने का अवसर आ सकता है ।

वह आदमी बोला—सेठजी, आपने मेरा जो उपकार किया है, उसे जीवन भर नहीं भूल सकता । कोई लुच्चा मिल जाता तो मेरा मोती ही ठग लेता । पर आपने मेरे प्रति असीम उदारता प्रदर्शित की । आप न मिलते तो यह मोती कौड़ियों में चला जाता । मैं इसका मूल्य और महत्त्व नहीं समझ सकता था । मैं आपको क्या भेंट कर सकता हूँ ? यह सब सोना भेंट करता हूँ, मगर यह भी थोड़ा है और यह आपकी ही बुद्धि का प्रताप है ।

सेठ ने कहा—नहीं, नहीं, ऐसा करना योग्य नहीं ।

तब उसने कह दिया यदि आप मुझे जिंदा रखना चाहते हैं तो इसे स्वीकार कर लीजिए और यदि मारना चाहते हैं तो मुझे दे दीजिए । क्या मैं इसे लेकर जा सकता हूँ ? नहीं, यह मेरे प्राणों का ग्राहक हो जायगा ।

यह कह कर और सेठ को वह सब सोना सौंपकर वह चल दिया। जब उसे सोने की आवश्यकता होती है, मोती से पूरी कर लेता है। उस मोती का नाम चन्द्रकान्ति है।

यह एक दृष्टान्त है। इस दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि जैसे मोती उसके लिए सर्वप्रयोजन साधक सिद्ध हुआ, उसी प्रकार मनुष्यजन्म भी-सब मनोरथों को पूर्ण करने वाला है। जैसे मोती लोहे को सोना बना देता था, उसी प्रकार मनुष्य-जन्म पाकर पतित जीव भी उच्च से उच्च स्थिति प्राप्त कर सकते हैं। जैसे मोती चन्द्रमा की धवल किरणों के सम्पर्क से लोहे को स्वर्ण बनाता था, उसी प्रकार मनुष्यजन्म सद्गुरु का संयोग पाकर पतितात्मा को पुनीत बनाता है। मनुष्यजन्म रूपी अनमोल मोती मिलता कैसे है? नौ वार गोता लगाने पर भी वह हाथ नहीं आया, दसवीं बार में उसकी प्राप्ति हुई और उस मनुष्य का दारिद्रय दूर हुआ। इसी प्रकार मनुष्यजन्म भी नौ घाटियों को पार करने के बाद प्राप्त होता है। पहली घाटी पृथ्वीकाय की है। उसमें से मर कर जीव ने पानी में जन्म लिया-अप्काय हुआ। वहाँ पुनः पुनः जन्म-मरण करके असंख्यात उत्सर्पिणीकाल एवं असंख्यात अवसर्पिणीकाल व्यतीत कर दिया, मगर उससे किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं हुई। समय पाकर वहाँ से निकला तो तेजस्काय में जन्मा, किन्तु वह भी व्यर्थ सिद्ध हुआ। फिर वायुकाय और वनस्पतिकाय में गया तो भी काम सिद्ध नहीं हुआ। तत्पश्चात् छठे गोते में द्वीन्द्रिय, सातवें में त्रीन्द्रिय और आठवें में चतुरिन्द्रिय पर्याय पाई। लेकिन यह सब गोते भी अकारथ गये। नौवें में असंज्ञी पचेन्द्रिय हुआ अथवा गाय-भैंस आदि ढोरों की योनि पाई या मगर-मच्छ आदि जलचर हुआ अथवा आकाश में उड़ने वाला पक्षी बन गया, चूहा बन गया, गधा बन गया, सर्प हो गया

या ऐसा ही कोई और योनि में उत्पन्न हो गया। तो यह नौवाँ गोता भी बेकार सिद्ध हुआ। इसके बाद जब जब दसवाँ गोता लगाया तो मनुष्यजन्म रूपी मोती मिला।

यह मोती सद्‌गुरु के हाथ में दिया तो सफल होगा अन्यथा निष्फल हो जायगा।

जिसने स्वयं ही जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष और पुण्य-पाप के स्वरूप को समीचीन रूप से नहीं समझा है, वह अपने चेले को कैसे समझा सकता है? कुए में पानी न होगा तो परिंडे में कहाँ से आएगा?

भजन करना सिखला दिया और समाधि लगाना बता दिया तो भी इससे सिद्धि मिलने वाली नहीं है। सिद्धि की प्राप्ति सम्यग्ज्ञानपूर्वक त्याग-वैराग्य का आचरण करने से प्राप्त होती है। ऊपरी बातों से सिद्धि नहीं मिलती। अतएव दसवीं घाटी में कठिनाई से प्राप्त मनुष्यजन्म रूपी मोती को प्राप्त कर लिया है तो इसे यतना से सँभालो अगर लापरवाही से यों ही गँवा दिया तो लम्बे समय तक प्रतीक्षा करनी होगी। बार-बार यह मौका मिलने वाला नहीं है।

तात्पर्य यह है कि तीर्थंकर भगवान् महान् पुण्य के स्वामी हैं। उन्होंने अनेक भवों में उत्तम करनी करके जो पुण्य का पुंज संचित किया, उसके प्रभाव से ही उन्हें अलौकिक और आश्चर्य-जनक दैवी विभूति प्राप्त हुई। मगर भगवान् इतने दयालु और उदार थे कि उन्होंने उस वैभव को प्राप्त करने का सम्पूर्ण रहस्य संसार के सामने खोल कर रख दिया। उसे छिपाने का प्रयत्न नहीं किया। वीतराग प्रभु को कोई भी रहस्य छिपाने की आवश्यकता नहीं होती। प्रभु ने जगत के जीवों को यह प्रेरणा भी दी है कि

जो भव्य प्राणी इस मार्ग पर चलेगा, वह भी इसी प्रकार की विभूति का अधिपति बन सकेगा।

भगवान् के इस उपदेश को सुनकर अनन्त जीवों ने सिद्धि प्राप्त की और अनन्त जीव सिद्धि प्राप्त करेंगे। आप चाहें तो उन अनन्तों में आपका भी नाम लिखा जा सकता है, परन्तु उसके लिए प्रयत्न करना होगा। विषय भोगों से दृष्टि फिरा कर आत्मा की ओर दृष्टि करनी होगी। यह समझना होगा कि—

सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडम्बियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा॥

संसार का सारा गाना-बजाना विलाप है, नाच-कूद विडम्बना है, हीरों और मोतियों के यह आभरण भारस्वरूप हैं और समग्र इन्द्रियविषय अन्ततः दुखदायी हैं।

इस प्रकार की धारणा आपके अन्तःकरण में बद्धमूल हो जाना चाहिए और निरन्तर बनी रहनी चाहिए। ऐसी अवस्था आ जाने पर आपका जीवन अन्तर्मुख बनेगा और आप सिद्धि की ओर अग्रसर होंगे। आपका मानवजीवन धन्य बनेगा और समस्त दुःखों का क्षय होने पर अनन्त आनन्द का निर्झर आपकी आत्मा से वह निकलेगा।

ब्यावर
१४-११-४७



अन्धकूप से बचो !



स्तुतिः—

स्वर्गापवर्गगममार्गविमार्गणेष्ट—
सद्धर्मतत्त्वकथनैकपटुस्त्रिलोक्याः ।
दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्व—
भाषास्वभावपरिणामगुणैः प्रयोज्यः ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

भगवान् तीर्थंकर देव शुक्लध्यान के बल से चार घातिया कर्मों का समूल विनाश करके और उन चार कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाले अनन्त चतुष्टय से मंडित होकर जगत् के जीवों

का उद्धार करने के लिए उपदेश फर्माते हैं। भगवान् की उपदेश-सभा समवसरण कहलाती है। देवगण बड़े चाव और भाव से इसकी बड़ी ही सुन्दर रचना करते हैं। रजत, स्वर्ण और रत्नों के बने समवसरण के तीन प्राकार मानों यह घोषणा करते हैं कि तीर्थङ्कर भगवान् का द्वार तीनों लोकों के प्राणियों के लिए खुला है। वहां जात-पात का कोई भेद नहीं है। अमुक वर्ण के लोग ही प्रभु की वाणी सुन सकते हैं और अमुक लोगों का वाणी सुनने का अधिकार नहीं है-ऐसा कोई बनावटी बन्धन नहीं होता। यह नहीं कि शूद्र के कान में भगवान् की वाणी पहुँच जाये तो उसके कान में उबलता हुआ शीशा भर दिया जाय! ऐसा भी नहीं कि भगवान् के उपदेशों से धनवान् या प्रतिष्ठित लोग ही लाभ उठा सकें और निर्धन तथा तिरस्कृत समझे जाने वालों का प्रवेश निषिद्ध हो।

अभिप्राय यह है कि मनुष्य समाज ने जितनी भी कृत्रिम दीवारें आज खड़ी कर रक्खी हैं, भगवान् के समवसरण में उन्हें कोई स्थान प्राप्त नहीं होता। वहाँ मनुष्यमात्र का दर्जा समान है।

इतना ही नहीं, प्रभु की दृष्टि में तो मनुष्य और तिर्यंचों के बीच भी कोई स्वाभाविक दीवाल नहीं है। अतएव समवसरण में मनुष्यों की भाँति तिर्यंचों को भी स्थान मिलता है। उन्हें भगवान् की पुनीत वाणी सुनने का उतना ही अधिकार जितना देवों और मनुष्यों को है।

आज लोगों की दृष्टि अत्यन्त संकुचित है। परन्तु यह आज के युग की देन नहीं, प्राचीनकाल से चले आये संकीर्ण संस्कारों का फल है। हमारे कुछ पड़ौसी बन्धुओं ने जात पांत के ऐसे अखाड़े खड़े किये हैं और उन्हें धर्म का ऐसा रूप दे दिया है कि

मानव जाति छिन्न भिन्न हो गई। ऐसा करने में वर्गगत स्वार्थ की भावना ने गहरा असर डाला है। जातिगत अभिमान भी उसका कारण रहा है। इसके प्रभाव से ऐसे-ऐसे विधान बनाये गये कि आज उन्हें सुनकर भी आश्चर्य होता है। मनुष्यों के एक बड़े समूह को वेद पढ़ने-सुनने का अधिकार नहीं है, यह जानकर क्या आपको यह नहीं, लगता कि यह विधान किसी भी न्यायसंगत आधार पर नहीं खड़ा है। इसके मूल में स्वार्थ और द्वेष का भाव ही भरा हुआ है। लेकिन वीतराग भगवान् के दरबार में ऐसा कोई भेदभाव नहीं होता। वहाँ मनुष्यमात्र समान रूप से अधिकारी है।

उस समवसरण में अष्टमहाप्रातिहार्यों से समन्वित तीर्थंकर भगवान् उपदेशवाणी उचारते हैं। यहाँ आचार्य महाराज ने भगवान् की उसी वाणी के विषय में संक्षेप में उल्लेख किया है।

तीर्थंकर की वाणी उस धर्मतत्त्व को प्रकाशित करती है जिसकी स्वर्ग और अपवर्ग अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करने के लिए गवेषणा की जाती है। भगवान् की वाणी के प्रखर प्रकाश में स्वर्ग-अपवर्ग का मार्ग सहज ही मिल जाता है। उस वाणी की दूसरी विशेषता यह है कि उसका अर्थ स्पष्ट होता है। संदेहजनक, भ्रमजनक नहीं होती और न असत्य वस्तु स्वरूप की प्रकाशक होती है। सर्वज्ञ और वीतराग होने के कारण तीर्थंकर के वचन अन्यथा हों, यह तो संभावना भी नहीं की जा सकती।

उस वाणी की एक बहुत बड़ी और असाधारण विशेषता यह होती है कि सब श्रोता उसे अपनी-अपनी भाषा सी समझकर सरलतापूर्वक समझ जाते हैं। किसी को वह दुर्बोध, अपरिचित और अज्ञेय नहीं जान पड़ती।

इसके अतिरिक्त तीर्थङ्कर की वाणी को और-और भी विशेषताएँ हैं, जिनका उल्लेख साहित्य में अनेक स्थलों पर किया गया है।

ऐसी जिनकी वाणी है, उन भगवान् ऋषभदेव को ही हमारा बार-बार नमस्कार हो।

भगवान चार प्रकार की धर्म कथा करते हैं—(१) आक्षेपणी (२) विक्षेपणी (३) संवेगनी और (४) निर्वेदनी। जिस उपदेश को सुनकर श्रोता राग, द्वेष और मोह से विमुख होकर तत्त्व की ओर आकर्षित होते हैं, वह आक्षेपणी कथा है। इस कथा के भी चार भेद बतलाये गये हैं—(१) आचार आक्षेपणी (२) व्यवहार आक्षेपणी (३) प्रज्ञप्ति आक्षेपणी और (४) दृष्टिवाद आक्षेपणी।

केशलौंच आदि आचार के द्वारा अथवा आचारांग के उपदेश द्वारा श्रोताओं को धर्म की ओर आकर्षित करने वाली कथा आचार-आक्षेपणी कथा कहलाती है। इसी प्रकार दोष लगने पर उसकी शुद्धि करने के लिए प्रायश्चित द्वारा आकर्षित करने वाली कथा व्यवहार-आक्षेपणी है। जिसे धर्म के विषय में किसी प्रकार की आशंका हो रही है, उस की शंका का मधुर वचनों से निवारण करने के लिए दिया जाने वाला उपदेश प्रज्ञप्तिकथा। श्रोताओं की पात्रता-योग्यता को देखकर नयवाद का आश्रय लेकर दिया जाने वाला उपदेश दृष्टिवाद-आक्षेपणी कथा है। अथवा दृष्टिवाद का कथन करना भी दृष्टिवाद-आक्षेपणी कथा है।

श्रोताजनों को कुमार्ग से हटा कर सन्मार्ग में लाने वाली कथा विक्षेपणी कथा है। यह कथा भी चार प्रकार से की जाती है:-

(१) अपने सिद्धान्त के गुणों का समर्थन करके परकीय सिद्धान्त के दोषों को प्रकट करना।

(२) पर सिद्धान्त के दोषों का वर्णन करके स्वसिद्धान्त की उपादेयता और निर्दोषता प्रमाणित करना।

(३) परसिद्धान्त में स्वसिद्धान्त के अनुकूल जो मान्यताएँ हैं, उनका समन्वय दिखलाकर सिद्धान्त विरुद्ध मान्यताओं को युक्ति-प्रमाण पुरस्सर प्रमाणित करना।

(४) परसिद्धान्त में कथित जिनागम के विपरीत वादों का कथन करके जिनागम से मिलती हुई मान्यताओं का दिग्दर्शन कराना।

आक्षेपणी कथा हो या विक्षेपणी, संवेगनी या निर्वेदनी, भगवान् के मुख से वह बड़ी ही मधुर, आनन्ददायक और आह्लादजनक होती है। उसे सुनकर श्रोताओं का चित्त एकदम आकंपित हो जाता है। ऐसा नहीं कि आजकल साधु तो उपदेश देते हैं और श्रोता ऊंघते हैं। तब साधुजी कहते हैं--तुम्हारा ऊंघना देखकर कहीं हमें भी ऊंघ न आ जाय! आज भी अर्थ रूप में कथित भगवान् की वाणी को जब विवेकशील व्यक्ति सुनते हैं तो आकंपित हुए बिना रहते।

हम एक बार देवास गये। वहाँ एक सरकारी अफसर थे। उन्हें लोगों ने व्याख्यान सुनने के लिए कहा। वह बोले-समय नहीं है और काम-काज बहुत है। मगर कहने वाले भी पक्के थे। किसी प्रकार उन्हें आने के लिए तैयार कर लिया। पर वह बोले मैं सिर्फ दस मिनिट ही ठहरूंगा। वह इस शर्त पर व्याख्यान सुनने आये। उस समय वीतराग देव की वाणी का व्याख्यान हो रहा था। दस मिनिट हो गये तो उनके किसी सहायक ने कहा-

समय हो गया साहब ! मगर साहब का अन्तःकरण ऐसा आकर्षित हुआ कि वह बोले-अभी और ठहरो।

आखिर वह व्याख्यान के अन्त तक बैठे रहे । तो कोई कितना ही पढ़ा-लिखा क्यों न हो, केवलियों के वचन उसे भी बड़े आनन्दकारी लगते हैं । भव्य जीवों के हृदय में वे घर कर जाते हैं ।

बाज लोग कहते हैं कि-'रोज सुनते हैं लेकिन असर तो होता नहीं ।' अरे मूर्ख, तेरे ही कसर है जिससे असर नही होता ।

सुनने से क्या होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे किसी आदमी को साँप ने डंस लिया और जहर चढ़ गया और वह बेहोश हो गया । उसे झाड़ा देने वाले या मंत्र पढ़ने वाले के पास ले जाकर लिटा दिया । वह बेहोशी की हालत में नहीं जानता कि मुझे कहाँ सुलाया गया है । मंत्र के उच्चारण का या झाड़ा दिये जाने का भी उसे पता नहीं है । मंत्र की आवाज उसके कानों में पड़ भी रही हो तो भी उसे पता नहीं । मगर झाड़ा देते-देते क्या होता है ? वह एकदम आँखें खोल देता है । इससे प्रतीत होता है कि यद्यपि बेहोशी की हालत में उसको कुछ भी समझ नहीं है, फिर भी मंत्र तो अपना काम करता ही है ।

भगवान् के वचन भी भवरोग को दूर करने के लिए और राग द्वेष मोह आदि के विष को हटाने के लिए मंत्र के समान हैं । इन मंत्रों को सुनने से सुनने वाले के सारे पाप झड़ जाते हैं यह केवली के वचनों का अचिन्त्य प्रभाव है ।

कई लोग कहते हैं कि मंत्र नही, जादू नहीं, टोना नहीं, यह सब ढोंग है, लेकिन दुनिया में सब है ।

भगवान् के वचन पूर्वापर अविरुद्ध होते हैं। आरंभ में जो कहते हैं, मध्य में और अन्त में उससे विरुद्ध नहीं कहते। ऐसा नहीं कि पहले कुछ कह दिया और पीछे कुछ। जो छोड़ने योग्य है उसे छोड़ने योग्य ही बताया है, जो जानने योग्य है उसे जानने योग्य कहा है और जो आदरणीय या उपादेय है, उसे आदरणीय और उपादेय ही बतलाया है। ऐसा नहीं कि जो उपादेय है उसे हेय कह दें और जो हेय है उसे उपादेय कह दें।

अठारह प्रकार के पाप छोड़ने योग्य हैं, आठों कर्म छोड़ने योग्य हैं तथा आस्रव और बंध भी छोड़ने योग्य हैं। और जो जानने योग्य हैं वह जानने योग्य ही हैं। जीव और अजीव जानने योग्य हैं। वे न हेय और न उपादेय की कोटि में आते हैं। संवर, निर्जरा और मोक्ष आदरने योग्य हैं। तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ वीत-राग की वाणी यथातथ्य पदार्थ की प्ररूपणा करने वाली होती है। छद्मस्थों की वाणी की तरह उसमें न अयथार्थता होती है और न पूर्वापरविरोध को ही अवकाश होता है। छद्मस्थ के वचन में विरोध आता है। वह एक रूप नहीं होता। कहीं दया की पुष्टि कर दी तो आगे चल कर कहीं हिंसा का विधान कर दिया। यह कितना फर्क है! उसी शास्त्र में दया की उसी में हिंसा की पुष्टि हो, यह कितना स्थूल विरोध है! मगर केवलियों के वचन में ऐसा नहीं होता।

केवली भगवान् के वचन हितकारी, सुखकारी और पथ्य-कारी होते हैं। वे वचन इस लोक में भी सुखदायी होते हैं और परलोक में भी सुखदायी होते हैं। जहाँ जीव जाएगा वहीं वे वचन साथ में जाएँगे। जैसे सुई के साथ धागा जाता है, उसी प्रकार भगवान् के वचन यदि एक बार जँच जाएँ तो जीव जिस जन्म में जायगा, वे वचन भी उसी जन्म में साथ जाएँगे।

भगवान् के वचन अमृत हैं। मनुष्य को जन्म-मरण के चक्र से छुड़ाने वाले हैं, समस्त दुःखों और परितापों का अन्त करने वाले हैं, शान्ति और सुख प्रदान करते हैं। जिसने अपने जीवन को वीतरागवाणी के अनुकूल बना लिया, वह इसी जन्म में अपूर्व शान्ति और निराकुलता का उपभोग करके परम सुख का अनुभव करने लगता है।

भगवान् की चार प्रकार की कथाओं में तीसरी संवेगिनी कथा है। यह कर्म किस प्रकार जीव को विविध प्रकार की व्यथाएँ पहुँचाते हैं, इनका फल कितना कटुक होता है, किस प्रकार कर्मोदय के कारण जीव नाना गतियों में भ्रमण करते हैं, इस प्रकार कर्म-विपाक की भयंकरता दिखला कर आत्मा में विरक्तिभाव जगाना, संवेगिनी कथा है। जब तक अन्तरात्मा में वैराग्य का भाव जागृत नहीं होता तब तक आत्मा धर्म की ओर उन्मुख नहीं हो सकता। जितने-जितने अंशों में सांसारिक पदार्थों के प्रति विरक्ति उत्पन्न होगी, उतने ही उतने अंशों में आत्मा अपनी ओर आकर्षित होगा। जब आक्षेपणी कथा के द्वारा जीव तत्त्व की ओर खिंच जाता है और विक्षेपणी कथा के द्वारा मिथ्या वस्तुस्वरूप से विरत हो जाता है, तब उसमें वैराग्य उत्पन्न करने के लिए सवेगनी कथा उपयोगी होती है। यह कथा भी चार प्रकार की है-(१) इहलोक-संवेगनी (२) परलोकसंवेगनी (३) स्वशरीरसवेगनी और परशरीरसंवेगनी।

यह मनुष्यजन्म क्षणभंगुर है, बिजली के प्रकाश की तरह पल भर में किसी भी समय नष्ट हो जाता है; जब तक है तब तक भी अनेक प्रकार के उपद्रवों, विघ्नों, कष्टों एवं रोगों से आक्रान्त रहता है। इन्द्रियाँ समय पाकर या विशेष कारण उपस्थित होने पर असमय में भी बेकाम हो जाती हैं। जब काम करती हैं तब भी

जीव को गलत राह पर ले जाती हैं। विषयों की ओर दौड़ कर जीव को व्याकुल बना देती हैं, उसकी शान्ति को नष्ट कर देती हैं, इस प्रकार की कथा इहलोकसंवेगनी कथा कहलाती है।

देवगण यद्यपि दिव्य सुखों को भोगते हैं, परन्तु वास्तव में देखा जाय तो उन्हें भी वास्तविक सुख नहीं है। नियत अवधि के पश्चात् उन्हें देवयोनि का परित्याग करना ही पड़ता है और फिर मनुष्य या तिर्यंच की योनि में जन्म लेना पड़ता है। जब देवगति में रहते हैं तब भी उन्हें एकान्त सुख नहीं है। उनको भी ईर्षा, द्वेष, भय, वियोग आदि सताते रहते हैं। वे भी अनेक प्रकार के दुःखों से पीड़ित हैं। इत्यादि कथन करके और परलोक संबंधी विरसता बतला कर श्रोताओं के चित्त में वैराग्य उत्पन्न करना परलोक-संवेगनी कथा है।

अपने ही शरीर की वास्तविक दशा पर विचार करना स्वशरीर संवेगनी कथा है। अरे जीव, जिस शरीर का तू बड़े ही लाड़ प्यार के साथ लालन-पालन कर रहा है, जिसको साफ-सुथरा और स्वच्छ रखने के लिए नहाता है, धोता है, सुगंधित बनाने के लिए इत्र तेल फुलेल लगाता है, जिसकी सुन्दरता देख कर अभिमान करता है, जिसकी शक्ति के मद में भूल कर दूसरों को नगण्य, तुच्छ या प्रतिबिम्ब के समान समझता है, तेरे इस शरीर की असलियत क्या है? इस शरीर के स्वरूप पर जरा ध्यान देगा तो पता चलेगा कि इसके समान गंदगी का घर संसार में दूसरा नहीं। दुनिया में जो गंदी से गंदी चीजें हैं और जो मनुष्य को घृणा उत्पन्न करती हैं, वह इस शरीर की उपज ही तो है! जिस शरीर की उत्पत्ति ही रजवीर्य जैसे अशुचि पदार्थों से हुई है, वह शुचि कैसे हो सकता है?

यह शरीर अशुचिमय है और अशुचिमय पदार्थ से ही इसकी रचना हुई है। कोई किसी को गाली देता है तो कहता है-- बेईमान के मूत का है। सुअर का पेशाब है! मगर यह कोई नहीं कहता कि अमुक का शरार कलाकन्द का है या कौन-सा शरीर कस्तूरी का बना हुआ है।

जब इस शरीर की उत्पत्ति के विषय में देवता विचार करते हैं तो वे भी घबरा जाते हैं। सोचते हैं--हा भगवन्! हम उन अशुचि चीजों में कैसे पैदा होंगे! इस प्रकार सोचकर वे भी चक्कर खा जाते हैं। लेकिन इतने पर भी उन्हें छुटकारा नहीं मिल सकता। वे भले ही चाहें कि हमें अब जन्म नहीं लेना है, पर उनके बाप की भी नहीं चल सकती। बापू! जन्म तो लेना ही पड़ेगा। गर्भ में आने पर पहले पहल जिन चीजों का आहार करना पड़ेगा वह है रज और वीर्य! यही जीव का प्रथम आहार होगा।

इस प्रकार अशुचि पदार्थों से निर्मित यह शरीर लाखों मन साबुन घिसने पर भी शुचि नहीं हो सकता। यह अशुचिका भंडार है और अशुचि का उद्गम स्थान भी है। अच्छी से अच्छी वस्तु भी इस शरीर के सम्पर्क में आकर अपवित्र बन जाती है।

इसमें से सब गंदी और घृणित वस्तुएँ ही निकलती हैं। पसीना निकलता है तो उसमें भी बदबू आती है। इत्र निकलता होता तो भी गनीमत थी, केसर निकलती तो भी अच्छा होता। पेशाब निकलता है तो वह भी दुर्गंधिमय, गुलाबजल निकलता तो समझते कि कुछ अच्छा है। बताओ तो सही कि इसमें से कौन-सी चीज सुहावनी निकलती है? क्या नाक कान या आँख में से कोई वस्तु अच्छी निकलती है? प्रतिदिन स्नान करने और सुगं-

धित तेल-इत्र लगाने पर भी क्या इसमें की दुर्गंध कम होती है? कहाँ तक कहें इस औदारिक शरीर की महिमा जिसे पाकर लोग फूले नहीं समाते और जिसकी सुन्दरता पर लट्टू होकर उल्लू बन रहे हैं। सब तरफ मढ़ी हुई चमड़े की यह चादरें अगर उतार कर एक ओर रख दी जाय तो देखो इसका मजा! कौवा, चील और गिद्ध आनन फानन इसे चट कर जाएँ और बचाना असंभव हो जाय।

इस प्रकार अशुचि होने के साथ-साथ यह शरीर अनित्य, असार और अशुभ भी है। किसी भी आघात से इसका कभी भी अन्त आ सकता है।

इस औदारिक शरीर को अनित्य जान कर बड़े-बडे राज-कुमारों ने जोग धारण कर लिया!

मनुष्य जब जन्म लेता है तो उसकी स्थिति क्या होती है? राजा हो या महाराजा, सेठ हो या साहूकार, रानी हो या सेठानी हो, जब जन्म लेते हैं तो सब नग्न ही आते हैं। साथ में लाये हुए नरभव रूपी रत्न को कस कर मजबूती के साथ मुट्ठी में पकड़ कर आते हैं। पहलेपहल मुट्ठी गाढ़ी बँधी होती है और बाद में खुल जाती है। ज्ञानी कहते हैं कि तू जैसी मुट्ठी बाँध कर लाया है वैसी ही ले जाना। खोल कर मत जाना। हे मनुष्य! तूने गर्भवास में नारकीय यातनाएँ सहन की हैं। वहाँ उलटे मुँह लटका रहा है। जहाँ एक तरफ माता का पेशाब और दूसरी तरफ मैला निकलता है, वहाँ, दोनों के बीच में चमगादड़ की तरह लटकता रहा है और वह भी नौ महीने तक।

आज किसी अंधेरे कमरे में बंद कर दिया जाय और दरवाजे बंद हों तो पाँच मिनिट भी नहीं रहा जाता; मगर नौमास तक

गर्भवास कैसे किया ? आज उन सब दुःखों को भूल गये हो, इसी से विषयवासना में फँस कर अपने जीवन को सफल समझ रहे हो परन्तु याद रखना यह पुनः पुनः गर्भ में उत्पन्न होने का मार्ग है। जो दुःख भोग चुके हो, उनसे सदा के लिए छुटकारा नहीं मिल गया है। अगर भगवान् के बतलाये मार्ग पर नहीं चलोगे तो फिर उन्हीं दुःखों की आवृत्ति होगी और अगर विषयवासना के पथ से विमुख होकर धर्म के मार्ग पर चलोगे तो एक न एक दिन अवश्य इन कष्टों से छुटकारा पा सकोगे इसलिए विषयवासना में सुख न समझो। जिस रास्ते से आये हो वह बहुत दुःखों से परिपूर्ण है, उसी पर क्यों फिर जाते हो ?

वसन्तपुर नामक नगर का राजा था। एक बार उसके मन में आई कि लोग कमाने-खाने में ही प्रतिदिन लगे रहते हैं लेकिन तीन दिन तो आराम करना चाहिए। यह सोच कर उसने एक महोत्सव करने का निश्चय किया। महोत्सव की तैयारियाँ बाग में की गईं और नगर में घोषणा करवा दी कि नगर के सब लोग बाग में ही रहें, खाएँ-पीएँ, आनन्द करें और मौज करें। कोई भी आदमी नगर में न रहे। जो इस राजाज्ञा का उल्लंघन करेगा वह दंड का भागी होगा।

कई लोग ऐसे मूंजी और अर्थपिशाच होते हैं कि खास संवत्सरी के दिन भी व्यापार बंद नहीं करते। ऐसे लोग न पेट में खाते हैं और न तन पर पूरा ओढ़ते हैं। कोई पूछता है तो कह देते हैं-हमारा नाम नहीं जानते ?

मैं तो मूंजी साहूकार,
पैसो खरचूं नहीं लिगार,

ऐसे लोग अपनी सन्तति का विवाह तब करते हैं जब शहर में बहुत विवाह हो रहे हों, क्योंकि वह सोचता है कि अपने यहाँ कम लोग जीमने को आएँगे !

कभी कोई दूध-दही थाली में रखने लगे तो वह कहता है-मुझे तो छाछ अच्छी लगती है। अरे 'तक्रं शक्रस्य दुर्लभम्' अर्थात् छाछ ऐसी चीज़ है जो इन्द्र के लिए भी दुर्लभ है !

कृपण विचार करता है कि मैं मर जाऊँगा तो अपने छोकरे को यही सीख देकर जाऊँगा कि-बेटा, किसी के चाले न लगना और एक पैसा भी धर्मादे में मत खर्चना ! कोई कहे तो चुप-चाप सुन लेना। अगर पानड़ी का अवसर आ जाय तो उठ कर चल देना और धन जोड़ कर जमीन में गाड़ लेना।

कृपण की ऐसी मनोवृत्ति होती है। वह पैसे को ही परमेश्वर मानता और दिन-रात उसी की आराधना में लगा रहता है। ऐसे लोगों का धन भी आखिरी समय में छूट जाता है। साथ में वे एक पैसा क्या फूटी कौड़ी भी नहीं ले जा सकते हाँ, साथ ले जाते हैं वे पाप की गठरी जो उस धन का उपार्जन करने में उन्होंने संचित किया है !

तो ऐसे मूंजी लोगों का विचार करके राजा ने घोषणा करवा दी। राजा की घोषणा सुन कर कई लोग तो अफसोस करने लगे और जो आमोदप्रमोदप्रिय थे, वे खुशी मनाने लगे।

उसी समय उस नगर में एक बड़ा साहूकार था। वह बड़ा धनवान् था और राजा की मूंछों का बाल था। ऐसे लोग पहले तो बड़े प्रभावशाली समझे जाते है और खूब मौज करते हैं, किन्तु यदि राजा साहब किसी कारण नाखुश हो गये तो उनकी बुरी तरह मिट्टी पलीद होती है।

राजा का कृपापात्र होने से उस साहूकार ने विचार किया आज नहीं, कल बगीचे में जाएँगे ! इस प्रकार सोचकर वह नगर में ही रह गया।

सन्ध्या समय राजा ने अपने कर्मचारियों को आदेश दिया कि घर-घर जाकर तलाश करो कि मेरी आज्ञा के विरुद्ध कोई नगर में रह तो नहीं गया है ! कर्मचारी नगर भर में घूमे। उन्होंने देखा-सब घर सुनसान हैं और सब में अंधेरा है, सिर्फ साहूकार के घर में रोशनी है।

कर्मचारियों ने जाकर राजा से निवेदन किया कि हुजूर, नगर में सेठजी रह गये हैं, अन्य कोई नहीं रहा।

राजा ने उसी समय आदेश दिया कि उसे हथकड़ी पहनाकर अभी अभी मेरे सामने हाज़िर करो।

सेठ करोड़ों का धनी और महाराज का मर्जीदां था। लेकिन कर्मचारियों ने जाकर उसकी हवेली के किवाड़ खटखटाये। सेठजी घर में अकेले ही थे। अन्दर से ही बोले सुबह आ जाऊंगा।

राज कर्मचारियों ने कहा-अब आपकी इच्छा काम नहीं आ सकती। आपको अभी चलना होगा। सरकार का हुकम है और यह हथकड़ियां भी पहननी होंगी।

सेठजी के पैरों तले की जमीन खिसक गई। उन्हें स्वप्न में भी ऐसे व्यवहार की आशा नहीं थी। उन्हें बाहर आना पड़ा। हाथों में हथकड़ियो के कड़े पहना दिये गये और राजा के सामने हाजिर किया गया।

सेठ को पूरा विश्वास था कि महाराज मुझे क्षमा कर देंगे। परन्तु वहाँ भी आशा से विपरीत हुआ। महाराज ने सेठ को

हिरासत में ले लेने का हुक्म दे दिया। वह कोतवाली में बंद कर दिया गया। प्रातःकाल होने पर सिपाहियों ने पूछा-हुजूर, सेठजी का क्या किया जाय ?

महाराज ने हुक्म दिया-उसे टोप और काछनी पहना कर अंधेरे कुंए में डाल दो।

पुराने ज़माने में ऐसा ही रिवाज़ था कि भारी कुसूर करने वाले की यही हालत की जाती थी। कुए में डाले गये आदमी को ऊपर से भोजन-पानी पहुँचाया जाता था। अन्धकूप में पड़ा आदमी वहीं टट्टी जाता, वहीं पेशाब करता और वहीं खाता-पीता था। इसी हालत में रोते-रोते उसे अपनी जिंदगी के दिन पूरे करने पड़ते थे।

सेठजी का यह बुरा हाल देख सेठानी झूर-झूर कर रोने लगी। मगर रोने-धोने से क्या होता था ? सेठानी ने अपने पति के तोल का सोना देना स्वीकार किया और फिर जवाहरात भी देना कबूल किया, मगर राजा ने स्पष्ट कह दिया-इस सेठने मेरे हुक्म को भंग किया है, मेरी आन तोड़ी है तो मेरे प्राण तोड़े हैं।

जिस दिन से सेठजी कुंए में उतारे गये उसी दिन से सेठानी एक बार भोजन करती, एक ही स्थान पर बैठी रहती और कपड़े भी फटे-पुराने ही पहनती थी। एक महीना हुआ, दो महीने बीते और धीरे-धीरे बारह महीने भी समाप्त हो गये।

कल्पना करो सेठ के कष्ट की ! रईसी ढंग से रहने वाला सेठ आज किस बुरी हालत में दिन काट रहा है ! वहीं खाना, पीना, टट्टी-पेशाब करना और वहीं सोना-जागना ! दुर्गंध के मारे जान निकलती है, जी मचलता है, प्राण निकलने की तैयारी करते हैं, पर निकलते नहीं। जिंदगी खराब हो गई।

सेठानी बहुत दुखी हो गई। उसका एक लड़का था। वह पढ़ने-लिखने जाता है सारे शहर के लोग एक स्वर से कहते हैं-सेठ क्या, शहर की नाक था। जाति वाले कहते हैं-हमारा एक रत्न चला गया। सुख-दुःख में सब के काम आते थे। किसी के घर कोई भी काम आ पड़ता तो सेठ अगवानी बन जाते थे। न मान था, न गुमान था। कितने भले आदमी थे। अपार धन-सम्पदा होने पर भी कभी कुराह पर नहीं गये। भंग जैसी नशीली चीज तक का कभी सेवन नहीं किया। पराई स्त्री को सदा माता-बहिन के समान समझा। चंदे का काम पड़ता तो सबसे पहले और सबसे अधिक देने वाले वही थे।

इस प्रकार जब नागरिक लोगों को सेठजी का अभाव बहुत खटकने लगा तो दस बीस आदमी मिलकर राजा के पास पहुँचे और बोले-अन्नदाता, सेठजी का अपराध क्षमा हो जाना चाहिए। उन्होंने काफी दंड भोग लिया है।

मगर राजा ने क्रोध में आकर कहा-उसकी। सिफारिश करोगे तो तुम सब को भी कुँए में उतरवा दूंगा।

कहो भाई, राजा का राजा कौन ! वह उस समय का राजा था जिस समय राजा निरंकुश शासक माना जाता था और समस्त सत्ता उसी के हाथ में होती थी।

समय व्यतीत होता गया और सेठ का लड़का पढ़-लिख कर होशियार हो गया। सगाई करने के लिए कई लोग उसके घर आने लगे। सेठानी रोती-रोती कहती मेरे पति ऐसे कष्ट में हैं ! मैं क्या सगाई करूँ।

लोगों ने कहा सगाई होने दो। विवाह के समय दौड़ धूप करके छुड़ाने का प्रयत्न करेंगे।

सगाई हो गई। लग्न का समय आया तो नगर के पच्चीस मुखिया-मुखिया लोग, जिनका राजा पर प्रभाव पड़ सके, एकत्र हुए। सबने विचार किया-नजराना लेकर राजा के पास चलना चाहिए और सेठजी को छुड़ाना चाहिए।

वे लोग गये और मुजरा करके बैठ गये। तत्पश्चात राजा ने दीवान से पूछा-पंच लोग किस काम से आए हैं। पंचों ने कहा-अन्नदाता के दर्शन के लिए।

राजा बोला-नहीं नहीं, कोई काम हो तो कहो। मुझे लोग राजा कहते हैं, पर मैं तो प्रजा का सेवक हूँ। कोई बात हो तो निस्संकोच कहो।

पंचों ने कहा-हुजूर प्रार्थना स्वीकार करें तो एक निवेदन करना है।

राजा-अवश्य कहो। आप लोगों के सब गुनाह माफ हैं। साफ-साफ कह दो।

तब हिम्मत पाकर पंचों ने निवेदन किया-अन्नदाता, हम लोग यह प्रार्थना करने आये हैं कि-सेठजी कुँए में हैं और सेठानी बहुत रोती हैं। उनके लड़के की शादी होने वाली है। प्रार्थना है है कि सिर्फ एक मास के लिए सेठ को बाहर निकाल दिया जाय।

पंचों की बात सुन कर राजा ने मुँह फेर लिया। फिर कहा-तुम्हारी दूसरी हजार बातें मानने को तैयार हूँ, पर तुमने यह माँग क्यों की? किन्तु मैंने वचन दे दिया है, उसे पूरा करूँगा, क्योंकि-

रघुकुल रीति सदा चल आई,
प्राण जाएँ पर वचन न जाई ॥

राजा ने एक महीने के लिए सेठ को कुँए से बाहर निकाल दिया। सेठजी की हजामत बनवाई गई, स्नान-मंजन करवाया गया और सुन्दर वस्त्र पहनाये गये। और फिर गाड़ी में बिठला कर हवेली भेजा गया। जब वह हवेली में पहुँचे तो दूर से देखते ही सेठानी खड़ी हो गई और रुदन करने लगी। कहने लगी भला हो उन लोगों का जिन्होंने प्रयत्न करके आपके दर्शन करवाये।

सेठानी अपने हाथ से नित्य नये व्यंजन बनाकर जिमाने लगी और दो-चार दिन में सेठजी के चेहरे पर रौनक आ गई। वह पगड़ी बाँध कर दुकान पर गये तो हजारों आदमी उनसे मिलने पहुँचे। तरह-तरह से लोग खुशी मनाने लगे।

सेठ ने देखा कि और तो सभी लोग प्रसन्न हैं किन्तु प्रधान मुनीम के चेहरे पर कुछ प्रसन्नता दिखाई नहीं देती। इसने मुझसे बात भी नहीं की। इसका कोई विशेष कारण होना चाहिए। यह सोचकर सेठ ने मुनीम से पूछा तो वह कहने लगा—इसमें खुशी की बात क्या है ! एक माह के बाद फिर वही स्थिति आ जाएगी। यही सोचकर मैं दुखी हूँ। विवाह-शादी का सब काम तो हम कर लेंगे। आप एक ही चिन्ता कीजिए। राजा और रानियों को किसी प्रकार नजराना आदि देकर ऐसा आदेश प्राप्त कीजिए कि पुनः कुएँ में न उतरना पड़े।

मुनीम की बात कितनी सही और समयोचित है ? अगर सेठ उसकी सलाह न माने तो उससे बढ़ कर मूर्ख और कौन हो सकता है ?

परन्तु सेठ ने कहा—मुनीमजी, लड़के के विवाह की यह खुशी फिर कब मनाने को मिलेगी ? वह काम तो पिछले दस दिनों में भी कर लूँगा।

मुनीम—नहीं सेठ साहब, मेरा कहना मानो; अन्यथा पछताना पड़ेगा।

सेठजी ने मुनीम की सलाह पर ध्यान नहीं दिया। समय अपना काम बराबर करता रहा। अट्ठाईस दिन बीत गये और सिर्फ दो दिन शेष रह गये। फिर भी सेठजी खाने-पीने और ऐश-आराम में ही मस्त रहे। अन्त में वे दिन भी समाप्त हो गये। राजा की गाड़ी हवेली पर आ पहुँची। सिपाहियों ने कहा—चलिए सेठ साहब, जल्दी कीजिए।

बस, सेठजी को वही टोपा और वही लांगिया फिर पहना दिया गया और उसी अंधकूप में उतार दिया गया। यह हाल देख कर सेठानी फिर फूट-फूट कर रोने लगी। सेठ कुंए में पड़ा-पड़ा सोचने लगा-हाय, कितनी बड़ी भूल हुई मुझसे! मैंने प्रमाद में सुअवसर गँवा दिया। छुटकारा पाने के लिए प्रयत्न करने का जो अवसर मिला था, उसका मैंने सदुपयोग नहीं किया और राग-रंग में ही वह दुर्लभ समय खो दिया। असली हित की बात सुझाने वाला तो एक मुनीम था। मैंने उसका कहा न माना तो फिर यह दिन देखना पड़ा। न जाने किस पुण्य के योग से कुंए से बाहर निकलने का अवसर मिला था। अब वह अवसर क्या फिर मिल सकता है? नहीं, जो अवसर मैंने मूर्खता करके गँवा दिया है, वह वापिस नहीं आ सकता। अब तो मरने के पश्चात् ही बाहर निकल सकूंगा।

इस प्रकार पश्चात्ताप करते-करते ही सेठजी की जिंदगी कुंए में पूरी हो गई।

भाइयो! आप सोचते होंगे कि सेठ वास्तव में बड़ा मूर्ख था जिसने अपने मुनीम की बात न मानकर छुटकारे का प्रयत्न न

किया ! वास्तव में आपका सोचना ठीक ही है। उसे जो थोड़ा-सा अवसर मिला था, उसका सदुपयोग करके यदि उसने सदा के लिए अन्धकूप से छुटकारा पालिया होता तो वह विवेकशील माना जाता। अतएव अगर आप सेठ को अविवेकी, अदीर्घदर्शी और प्रमादी कहें तो ठीक ही होगा। परन्तु आप जो बात उस सेठ के लिए ठीक समझते हैं, वही अपने लिए भी ठीक समझते हैं या नहीं ? दूसरे के दोषों की आलोचना करने से आपको क्या लाभ होगा ? आपको तो अपने ही दोषों की आलोचना करनी चाहिए। जो बुराई आपमें मौजूद है, उसी बुराई के लिए दूसरे को बु॰ा कहने का आपको क्या अधिकार है ?

क्या आप अन्धकूप में नहीं पड़े थे ? गर्भावास अंधकूप के सदृश ही है। वहाँ कौन स्नान करवाता है, कौन हजामत बनाता है ? वहाँ भी वही गंदगी है, जिसमें लिपटे रहकर समय गुजारना पड़ता है। अन्धकूप तो फिर भी कुछ बड़ा होता है, गर्भावास तो उससे भी छोटा-सँकड़ा है। उसमें आप पड़े रहे। कर्म रूपी राजा ने आपको उसमें उतार दिया था।

पुण्य रूपी पंचों की प्रेरणा से आप उस अंधकूप से बा र आगये, मगर सदा के लिए नहीं, सीमित समय के लिए ही आये हैं। वह अवधि पूरी हो जायगी तो फिर उसी गर्भावास रूपी अंधकूप में निवास करना पड़ेगा, यह बात आपको भली भाँति मालूम है।

गनीमत समझो कि सकुशल बाहर निकल आये, वर्ना बहुत-सों को तो टुकड़े-टुकडे होकर निकलना पड़ता है। आप निकले-आपका जन्म हुआ तो सब घर वालों ने खुशी मनाई। राग-रागिनियाँ गाई जाने लगीं। आप संसार के ऐश आराम में फँस गये और भूल गये कि किस प्रकार की मुसीबत झेल कर आ ये हो और भविष्य में क्या अवस्था आने वाली है। तब मुनीम के

समान सद्‌गुरु ने आपको चेतावनी दी। कहा-भाई, यह क्या कर रहे हो! तुम्हारे पास थोड़ा-सा समय है। वह यों ही बीत रहा है। भविष्य की चिन्ता करो। ऐश-आराम में ही यह समय खो दोगे तो पुनः अन्ध कूप में गिरना पड़ेगा। अतएव वह समय आने से पूर्व ही कुछ उपाय कर लो कि सदा के लिए अंधकूप से छुट्टी मिल जाय। यह समय प्रमाद में नष्ट कर दोगे तो पश्चात्ताप करना पड़ेगा, और 'फिर पछताए होत क्या, चिड़ियाँ चुग गई खेत।' समय निकल जाने पर पश्चात्ताप करने से भी क्या लाभ होगा! बुद्धिमान् वही है जो प्राप्त अवसर का सदुपयोग करके लाभ उठा लेता है। इसलिए हे भाइ, सावधान हो जाओ। चेतो, भविष्य का विचार करो। वर्त्तमान का ऐश-आराम अल्पकालीन है। इस ऐश आराम के मोह में भूल कर अनन्त भविष्य को घोर दुःखमय मत बनाओ। उपाय कर लो आगे के दुःखों से बचने का! देखो, जो अवसर तुम्हें मिला है, उसका बहुत-सा भाग यों ही निकल चुका है। बाल्यावस्था खेल कूद में चली गई। उस समय हित-अहित को पहचानने की शक्ति ही नहीं आई थी। जब शक्ति आई तो वह उलटी दिशा में चल पड़ी। यौवन विषय विलास में गया, परिवार की सार-सँभाल में व्यतीत हुआ और लक्ष्मी की आराधना में समाप्त हुआ। जीवन की संध्या आ पहुँची है और अब भी तुम्हें होश नहीं आ रहा है।

यौवन जीवन का सर्वोत्तम समय है और उसे भविष्य को सुखमय बनाने के कार्य में लगाना चाहिए। मगर आप क्या कर रहे हैं? आप भविष्य की सोचते तो हैं पर आपकी दृष्टि इतनी छोटी है कि इसी जीवन का भविष्य आपको नजर आता है। आपको खयाल नहीं कि इस जीवन के पश्चात् भी आप बने रहेंगे। इसी कारण इससे आगे का हिताहित आप नहीं सोचते। परन्तु

यह दृष्टि आस्तिकों की नहीं, नास्तिकों की है। नास्तिक लोग, जो आत्मा का पुनर्जन्म नहीं मानते, वही ऐसा सोचते हैं कि इस जीवन के पश्चात् कुछ नहीं है। आस्तिक की तो दृढ़ आस्था होती है कि आत्मा है, वह स्वतंत्र वस्तु है, पुनर्जन्म धारण करती है, उसे एक भव के बाद दूसरे भव में जाना पड़ता है। जीवन के साथ उसकी सत्ता समाप्त नहीं हो जाती। जिनका ऐसा विश्वास है वे लोग क्यों परलोक के हित की बात नहीं सोचते ?

परन्तु मोह की मदिरा बड़ी जबर्दस्त है। उसके प्रभाव से मनुष्य समझदार होकर भी नासमझ बन रहा है, जानता भी अनजान हो रहा है। अगर यही दशा रही तो याद रखना, ऐसा अवसर देखना पड़ेगा कि न पूछो बात ! नरक के उस महा-अन्ध कूप में जा पड़ोगे तो सागरोपमों तक भी उद्धार न होगा। वनस्पतिकाय में चले गये तो अनन्त काल तक भी मनुष्य जन्म को नहीं पा सकोगे ।

मूर्ख सोचता है–पाँच दिन में कर लेंगे, दो दिन में आगे की सुधार लेंगे या मरने लगेंगे तो संथारा कराने के लिए महाराज को बुला लेंगे ! परन्तु उसे पता भी है कि वह कब किस स्थिति में मरने वाला है। जो लोग जीवन के समय कुछ नहीं करते, वे मृत्यु के समय क्या कर सकेंगे ? अरे कोई नहीं जानता कि यह शरीर कब छूट जायगा ? किसी दुर्घटना से मृत्यु होगी या किसी पापी के हाथ से ? बेहोशी की हालत में प्राण चले जाएँगे या हाय-हाय करते हुए ?

इसलिए सद्गुरुओं की चेतावनी है कि–अभी, इसी समय प्रयत्न कर लो। अंधकूप में गिरने से बचना हो तो क्षण भर भी व्यर्थ न गँवाओ। देखो, सिरहाने मौत हंस रही है और किसी भी समय उसका हमला हो सकता है। संसार में उसको रोकने का

सामर्थ्य किसी में नहीं है। कोई उसे लौटा नहीं सकता, भगा नहीं सकता।

संसार में कौन-सी वस्तु नित्य है, जिसके लिए इतने लालायित हो रहे हो ?

चुलुकजलवदायुः सिन्धुवेलावदंगं,
करणबलममित्रप्रेमवद्यौवनं च ।
स्फुटकुसुमवदेतत् प्रत्ययैकत्रतस्थं,
क्वचिदपि विमृशन्तः किन्तु मुह्यन्ति सन्तः ॥

यह आयु चुल्लू में लिये हुए पानी के समान थोड़ी-थोड़ी निरन्तर क्षीण होती जा रही है। शरीर समुद्र में आये ज्वार की तरह अल्पकालीन है। इन्द्रियों का बल शत्रु के प्रेम के समान है, जो लाख प्रयत्न करने पर भी स्थिर नहीं रह सकता। और यह यौवन क्या स्थायी रहने वाला है ? नहीं, जैसे खिला हुआ फूल थोड़े ही समय में नीचे गिर जाता और मुरझा जाता है, उसी प्रकार यौवन भी बुढ़ापे में परिणत होकर मुरझा जाता है। इस प्रकार विचार करके सन्त पुरुष किसी भी वस्तु पर मोह नहीं करते। वे अपने भविष्य को सुधारने के लिए इन सब प्राप्त साधनों का उपयोग कर लेते हैं। इनके लिए आत्मा के शाश्वत हित का विघात नहीं होने देते। जब शरीर, इन्द्रियबल और आयु ही की ऐसी दशा है तो अन्य भौतिक पदार्थों की तो वार्त्ता ही क्या है !

इस प्रकार तीर्थंकर भगवान् समवसरण में विराजमान होकर संवेगजनक उपदेश फर्माते हैं। जो भगवान् के उपदेश के अनुसार अपना जीवन व्यवहार बनाते हैं, वे भवसागर से पार होकर आनन्द ही आनन्द का लाभ करते हैं।

ब्यावर
१५-११-४७



संवेग



स्तुतिः—

शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा विभोस्ते,
लोकत्रयद्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती ।
प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तरभूरिसंख्या,
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्याम् ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं–हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

भगवान् तीर्थंकर जब समवसरण में विराजमान होते हैं, तब उनके पीछे भामण्डल है। भामण्डल भगवान के आठ महाप्रातिहार्यों में से एक हैं। उस भामंडल की द्युति निराली ही होती

है। तीनों लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिससे उसकी तुलना की जा सके। चन्द्रमा और सूर्य का प्रकाश भी उसके सामने नगण्य होता है। उसके कारण भगवान् एक मुख होकर भी चतुर्मुख दृष्टि गोचर होते हैं। प्रत्येक दिशा में बैठे श्रोताओं को ऐसा भास होता है, मानो भगवान का मुख हमारी ओर ही है। जो इस प्रकार के अलौकिक भामण्डल से सुशोभित हैं, उन्हीं प्रभु ऋषभनाथ को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

भामंडल की छबी बड़ी प्यारी होती है। उसका सौम्य और प्रखर आलोक दर्शकों के हृदय में अनूठा आह्लाद उत्पन्न कर देता है। भामंडल भगवान् के पुण्य के अतिशय का सूचक है।

समवसरण में विराजमान होकर प्रभु चार प्रकार की देशना फर्माते हैं, जिसे चार कथा का नाम दिया गया है। कल संवेगनी कथा का किंचित स्वरूप बतलाया गया था। यह कथा चार प्रकार की है—इहलोकसंवेगनी, परलोकसंवेगनी, स्वशरीर संवेगनी और पर शरीर संवेगनी। जिस कथा से इस लोक के प्रति वैराग्य भाव उत्पन्न होता है, वह इहलोक संवेगनी कथा है और जो कथा परलोक के विषय में विरक्ति भाव जागृत करती है, वह परलोक संवेगनी कथा कहलाती है।

जैसे इस लोक संबंधी काम भोग आदि त्याज्य हैं और उनकी कामना करना कर्मबन्ध का कारण है, उसी प्रकार पारलौकिक सुखों की कामना भी कर्मबन्ध का कारण है। बहुत-से लोग जो पुण्य-धर्म की क्रियाएँ करते हैं, उनके पीछे लौकिक कामना होती है। इस लोक में धन-जन भोगोपभोग आदि प्राप्त करने की आकांक्षा बहुतों को होती है। इसी प्रकार आगे चक्रवर्ती होने, इन्द्र होने, देव होने या समृद्धिशाली आदि होने की कामना से भी बहुत

लोग प्रेरित होते हैं। किन्तु कामना मात्र त्याज्य है चाहे वह इह-लौकिक हो अथवा पारलौकिक। कामना वह विष है जो धर्माचरण के अमृत को भी विषाक्त बना देती है। अतएव उसका त्याग करना अत्यावश्यक है।

जगत् के दुःखों के मूल का पता लगाएँ तो जान पड़ेगा कि समस्त दुःख कामानामूलक हैं। कामना दुःखों की जननी है। इसी कारण भगवान् ने फर्माया है—

कामे कमाही,
कमियं हु दुक्खं।

तुम दुःखों से बचने के लिए रात-दिन प्रयत्नशील रहते हो, पर दुःख तुम्हारा पिण्ड नहीं छोड़ते। इसका कारण यही है कि तुमने उनके मूल कारण को समझा ही नहीं है। दुःखों का कारण कामना है। अगर कामना को जीत लिया जाय तो दुःख अनायास ही जीते जा सकते हैं।

कामना अनेक रूप धारण करके मनुष्य को छलती रहती है। जैसे-तैसे मनुष्यभव संबंधी कामभोगों से विरक्ति हो जाय तो परलोक के सुखों की भूख जाग उठती है। इससे भी बचना आवश्यक है। ज्ञानी जनों का कथन है कि न तो इस लोक संबंधी सुखों की कामना करो और न परलोक संबंधी सुखों की; सिर्फ कर्मों की निर्जरा के हेतु धर्म का आचरण करो।

इह लोक संबंधी कामना को नष्ट करने के लिए इहलोक-संवेगनीकथा उपयोगी होती है और परलोक संबंधी कामना को हटाने के लिए परलोकसंवेगनी कथा समर्थ होती है।

परलोक संबंधी कामनाओं को नष्ट करने के लिए परलोक के वास्तविक स्वरूप का विचार करने की ही आवश्यकता है। साधारणतया मनुष्य को स्वर्ग की बड़ी आकांक्षा रहती है। कई मत वालों ने तो स्वर्ग पाने के लिए अलग प्रकार के यज्ञ आदि अनुष्ठानों का प्रतिपादन किया है। मगर स्वर्ग के सुखों के संबंध में विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें प्राप्त कर लेने पर भी हमारी समस्या सदा के लिए हल नहीं होती। स्वर्गगति सदा बनी रहने वाली अवस्था नहीं है। उसकी भी अवधि है। जब वह अवधि समाप्त हो जाती है तो जीव को पुनः तिर्यंच आदि की योनियों में जन्म लेना पड़ता है। ऐसी अस्थायी अवस्था से हमारा काज सिद्ध नहीं होता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से देखें तो स्वर्ग का जीवन उन्नत नहीं है। वह मनुष्यजीवन की अपेक्षा तो अत्यन्त हीन है ही, पशुओं की भी बराबरी नहीं कर सकता। वहाँ पहुँच कर जीव ऐसी मोहिनी माया में फँस जाता है कि अपनी सारी सुधबुध भूल जाता है और श्रावकोचित व्रतों का पालन करने में भी असमर्थ बन जाता है जहाँ अध्यात्मिक विकास की इतनी भी गुंजाइश नहीं है, वहाँ आत्मा का कितना हितसाधन किया जा सकता है, यह बात स्पष्ट है।

हाँ, वैषयिक सुख वहाँ सुलभ हैं, पर वे तो आत्मा को और अधिक मलीन ही बनाते हैं।

यहाँ अधिक से अधिक उड़ाऊ आदमी की जो हालत होती है, वही हालत देवों की समझिए। किसी के पास पूर्वोर्जित प्रचुर धन हो और वह नयी कमाई कुछ भी न करता हो, सिर्फ पूर्वोर्जित सम्पत्ति को बेरहमी के साथ फूंक रहा हो तो उसे आप क्या कहेंगे? वह थोड़े दिन मौज कर लेगा, मगर एक दिन दिवालिया हो जायगा।

देवों की ऐसी ही दशा होती है। वे पूर्वार्जित पुण्य का उपभोग करते हैं, परन्तु नवीन पुण्योपार्जन इतना भी नहीं कर सकते कि मर कर फिर स्वर्ग में जन्म ले सकें। अन्ततः उन्हें दिवालिया की तरह निम्न स्थिति में आना पड़ता है। हे आत्मन्! तू ऐसी गति प्राप्त करके भी क्या हासिल कर लेगा?

देवायु समाप्त होने पर ही दुःख हो और जब तक देवगति है तब तक कोई दुःख हीं न हो, एकान्त सुख हो सुख हो, ऐसा भी तो नहीं है। स्वर्ग में भी अनेक झंझटें हैं। जैसे यहाँ कितने ही मनुष्य दास के रूप में जीवन यापन करते हैं, उसी प्रकार कई देवों को भी किंकर बन कर रहना पड़ता है। बहुत-देव तो ऐसे भी हैं जिन्हें चाण्डालों की तरह घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। जैसे मनुष्य यहाँ हाथी, घोड़ा आदि जानवरों पर सवार होते हैं, वैसे वहाँ उच्च कोटि के देव निम्न श्रेणी के देवों पर सवार होते हैं। उन बेचारों को वाहन बन कर बड़े देवों को ढोना पड़ता है। दूसरों के आदेशों का पालन करना पड़ता है। देवगति पा लेने पर भी उनका जीवन इतना पराधीन होता है।

जैसे मनुष्यों और तिर्यंचों को राग, द्वेष, मोह आदि आन्तरिक विकार क्षुब्ध किये रहते हैं और निराकुल नहीं होने देते, उसी प्रकार देवों में भी यह विकार विद्यमान रहते हैं और उन्हें शान्त नहीं रहने देते। अपने से अधिक समृद्धि वाले देव ईर्षा से जलते रहते हैं।

अन्त में जब देवायु क्षीण होने को आती है तो देव बुरी तरह घबराता है, व्याकुल होता है और हाय-हाय करता है। उस समय उसके दुःखों का पार नहीं रहता।

यह है देवगति की स्थिति। इसे अनन्त-अनन्त बार आप प्राप्त कर चुके हैं। मगर आपका कौन सा कल्याण हो गया?

स्थायी सुख-शान्ति वहाँ पहुंचने पर भी नहीं मिली। शाश्वत सुख प्राप्त होने पर और दुःखों का आत्यन्तिक विनाश होने पर ही आत्मा का कल्याण हो सकता है। यह अवस्था मुक्ति दशा में ही प्राप्त होती है।

दुनिया में सबसे अधिक लोभ देवता को होता है। चार गतियाँ है और चारों गतियों से आये हुए जीवों के चार चिह्न हैं। नरक में भय बहुत होता है, अतः यहाँ जिसे भय अधिक लगे, जो बात-बात में डर जाय समझ लो कि यह नरक में से आया है। जिसे खाने की लोलुपता बहुत हो, समझो वह तिर्यंच योनि से निकल कर आया है। जानवर दिन रात चरते ही रहते हैं। जिसमें मैथुन संज्ञा अधिक हो उसे मनुष्य योनि से आया हुआ जीव समझना चाहिए। जिसके चित्त में लालच की अधिकता हो, उसे स्वर्ग से आया समझना चाहिए।

स्वर्ग को इस दुनिया का पेरिस समझ लीजिए। जैसे कोई मनुष्य अच्छी कमाई करके पेरिस में जा बैठे और वहाँ के राग-रंग में सारी सम्पत्ति लुटा कर वापिस अपने गांव में आ जाय; इसी प्रकार यहाँ कमाई करके जीव स्वर्ग में चला जाता है और वहाँ उसे खत्म करके वापिस लौट आता है। वहाँ सामायिक पौषध आदि कुछ भी नहीं होती। एक नाटक में ही दो हजार वर्ष पूरे हो जाते हैं। जो कुछ भी सुख सामग्री का योग मिला है, वह मनुष्य जन्म में ही मिला है। फिर भी मनुष्य रो रहा है कि काम बहुत है और समय थोड़ा है! कहा है-

आगे धंधो पीछे धंधो, धंधा माही धंधो।
धंधो छोड़कर भजन करे, वह साहब को वंदो॥

भाई ! जगत के धंधे पूरे होने वाले नहीं है। जब देखो जीव धंधे में ही फँसा हुआ रहता है ! फिर भी क्या कभी उसका अन्त आता है ?

अरे जीव ! धंधे में भी सफलता पुण्य के योग से ही मिलती है। देवलोक में पुण्य थोड़ा रह जाय तो मनुष्य गति में उत्पन्न होता है, और उससे भी थोड़े रह जाय तो पशु-पक्षी योनि पाता है और वहाँ उससे भी पुण्य की कमी हो तो पृथ्वीकाय में पानी में अथवा वनस्पति आदि में उत्पन्न होता है ! कहाँ स्वर्ग के भोग विलास और कहाँ एकेन्द्रियदशा !

एक दुखी मनुष्य किसी साधु के पास पहुंच कर कहने लगा-महाराज, मुझे दुःख से छूटने का उपाय बतलाइए। साधु ने उपाय बतला दिया। कहा-साधु बन जाओ। चारित्र ग्रहण करने से सुख मिलता है। चारित्र ग्रहण किये बिना तीन काल में भी सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। देखो, दशार्णभद्र राजा को बड़ा भारी अभिमान हुआ। दशार्णभद्र मन्दसौर का राजा था। उसके अन्तःपुर में पांच सौ रानियाँ थीं। अठारह हजार हाथी थे, एक हजार पालकियाँ थीं। करीब अढ़ाई हजार वर्ष पहले भगवान् महावीर के समय में बड़ा राजा हो गया है। उसके मन में विचार आया कि भगवान् महावीर यहाँ पधारें तो बड़ा अच्छा हो।

मनुष्य शुद्ध हृदय से जो इच्छा करता है, वह प्रायः फल ही जाती है। तो भगवान् ग्राम, नगर, पुर, पाटन आदि में विचरण करते हुए, भव्य जीवों को उपदेश देते हुए और प्रमाद की निद्रा में सोते हुए प्राणियों को जगाते हुए दशार्णपुर में पधार गये। राजा को समाचार पाकर अतीव प्रसन्नता हुई। उसका

रोम-रोम खिल उठा। उसने सोचा-कल भगवान् के दर्शन करने जाऊँगा और इतने ठाठ से और इतने बड़े जुलूस के साथ कि आज तक कोई भी राजा न गया हो। राजा ने अठारहों हजार हाथियों को सोने और रत्नों के आभरणों से सुसज्जित करने का और सारी सेना को भी तैयार होने का आदेश दिया। समस्त रानियों को भी उत्तम से उत्तम वस्त्राभूषण धारण कर भगवान् की उपासना के लिए चलने को कह दिया। पालकियाँ सजाई गई। घोड़े भी सजधज कर तैयार हो गये। एक-एक रानी के साथ अठारह-अठारह देशों की दासियाँ थीं। तात्पर्य यह है कि राजा दशार्णभद्र ने बढ़िया से बढ़िया और बड़ी से बड़ी जो तैयारी हो सकती थी, वह की। तत्पश्चात स्नान करके तथा वस्त्राभूषण धारण करके वह हाथी के हौदे पर सवार हुआ।

राजा के हाथी पर सवार होते ही निशान फहराने लगे और नगाड़ों पर डंके पड़ने लगे। जिंदगी में पहली बार दिखाई देने वाले इस दृश्य को देखने का लोभ कौन छोड़ सकता था? पूरा का पूरा नगर उलट पड़ा। बाजार में आदमी न समाये। राजा की सवारी नगर के दरवाजे पर पहुँची तो उसने हाथी पर बैठे-बैठे ही पीछे की ओर नजर फेंका। जुलूस के पिछले सिरे का कहीं पता ही नहीं चला।

। रानियाँ उसके पीछे चल रही थीं। प्रत्येक रानी के पीछे उसकी दासियाँ मंगल गीत गाती चली जा रही थीं। रजवाड़ों के यह मजे हैं।

राजा ने पीछे की ओर देखकर और जुलूस की विशेषता और विशालता का विचार करके सोचा-आज जैसी सवारी लेकर मैं निकला हूँ, वैसी सवारी के साथ अब तक कोई भी राजा न

निकला होगा। राजा दशार्णभद्र के मन में इस प्रकार का बड़ा अभिमान उत्पन्न हुआ।

जीव को अभिमान जल्दी हो आता है। यह संकीर्ण दृष्टि या विचार हीनता का द्योतक है। संसार बहुत बड़ा है और यहाँ एक से बढ़कर दूसरा मौजूद है। सेर को सवा सेर मिल ही जाता है। अन्त में किसी का भी अभिमान टिकता नहीं है। फिर भी मनुष्य अपने धन, जन, रूप, विद्या, बल, आदि का अभिमान करता है। अभिमान भी एक प्रकार का नशा है जो चढ़कर मनुष्य को आत्मविस्मृत बना देता है।

हाँ, तो राजा दशार्णभद्र की वह सवारी धीरे-धीरे चलती हुई भगवान् महावीर स्वामी के समवसरण के समीप पहुँची। राजा हाथी के हौदे से नीचे उतर पड़ा। गले में पहनी हुई फूलों की मालाएँ उसने उतार दीं। मुँह में पान का बीड़ा था। उसे उगल कर मुँह साफ किया। छत्र-चामर आदि का वहीं परित्याग कर दिया। तत्पश्चात विनम्र भाव से उसने समवसरण में प्रवेश किया। भगवान् के ऊपर दृष्टि पड़ते ही उसने अंजलि की और मस्तक झुकाया। इस समय राजा के हृदय में कितना उल्लास था! कितना आह्लाद था! भक्ति का झरना बह रहा था। चित्त शान्त और प्रशस्त था।

भगवान् के निकट पहुँच कर दशार्णभद्र ने प्रणाम किया और तीन प्रदक्षिणाएँ कीं। फिर दोनों हाथ जोड़ कर और एक पैर ऊँचा करके सामने बैठ गया।

उसी समय स्वर्ग से इन्द्र महाराज का आगमन हुआ। वह प्रथम देवलोक के अधिपति शक्रेन्द्र थे, जो बत्तीस लाख विमानों के अधिपति और महान् दिव्य वैभव के स्वामी थे। वह भी भगवान्

की प्रदक्षिणा करके राजा के समीप ही बैठ गये। इस प्रकार वहाँ नरेन्द्र भी बैठे, सुरेन्द्र भी बैठे और मुनीन्द्र तो विराजमान थे ही।

बैठे-बैठे शक्रेन्द्रजी के मन में आया कि देखें कौन क्या भावना लेकर समवसरण में आया है? उन्होंने अवधिज्ञान का प्रयोग करके जो ज्ञान लगाया तो पता चला कि–ओहो! राजा दशार्णभद्र को बड़ा अभिमान हो रहा है। यह सोचता है कि मेरे जैसे ठाठ से भगवान महावीर का दर्शन करने कोई नहीं आया है! मैं सीधी-सादी तरह चला आया तो इसे इतना अहंकार हो गया। इसके अहंकार के ज्वर को उतार देने के लिए मुझे भी थोड़ा अपना वैभव प्रदर्शित कर देना चाहिए।

उसी समय शक्रेन्द्रजी ने ऐरावत नामक देवता को आदेश दिया कि—'देखो, राजा दशार्णभद्र का अहंकार ठिकाने लगना चाहिए।'

यह आदेश मिलते ही ऐरावत देव ने चौंसठ हजार हाथी विक्रिया से तैयार किये। और सब तो आसमान में खड़े रक्खे गये, सिर्फ एक नीचे उतारा गया। उन हाथियों की रचना अद्भुत और अतीव आश्चर्यजनक थी। एक-एक हाथी पाँच-पाँच सौ सूंडें थी और प्रत्येक सूंड में आठ-आठ दन्तशूल थे। एक-एक दन्तशूल पर आठ-आठ बावड़ियाँ थी और बावड़ियों में आठ-आठ कमल सुशोभित हो रहे थे। प्रत्येक पंखुड़ी पर शक्रेन्द्र महाराज का दिव्य सिंहासन था और वे प्रत्येक सिंहासन पर आसीन दृष्टिगोचर हो रहे थे। एक-एक पंखुड़ी पर बत्तीस प्रकार के नाटक हो रहे थे, जिनमें अलौकि सौन्दर्य से सम्पन्न अप्सराएँ नाना प्रकार के अभिनय कर रही थीं।

दैवी माया कल्पना से अतीत है। देवताओं में अद्भुत शक्ति होती है। जैसे मनुष्यों में आश्चर्यजनक आविष्कार करने वाले वैज्ञानिक होते हैं, उसी प्रकार किन्तु उनसे बहुत अधिक बढ़े-चढ़े देव वैज्ञानिक होते हैं। उनको तमाम साइंस मालूम है। उ. के साइंस के सामने मानवीय विज्ञान किसी गणना में नहीं है, जैसे छोकरों का खिलवाड़ हो ! वे घोड़े पर सवार आदमी का सिर उतार सकते हैं और खून टपकने को हो कि फिर उस सिर को भड़ से तत्काल जोड़ भी सकते हैं। यह काम वे इतनी सफाई के साथ करते हैं कि उस आदमी को पता ही न चले ! तात्पर्य यह है कि देवता की शक्ति हमारी कल्पना में भी नहीं आ सकती ! कौन जाने यह बारीक बातें और अतिशय ज्ञानी के सिवाय बतावे भी कौन ! कई-एक छोटी बुद्धि वाले तो कह देते हैं—साहब, यह बातें जंचती नहीं; पर अरे मूर्ख ! तुझे नहीं जंचती तो किसी का क्या कुसूर है ? तेरे न जंचने से वस्तु का स्वरूप तो पलट नही सकता। वह जैसे का तैसा ही रहेगा। कूपमण्डूक को समुद्र की लहर की कल्पना नहीं आ सकती।

शक्रेन्द्र महाराज का यह विस्मयोत्पादक वैभव देख राजा दशार्णभद्र का अहंकार ज्वर उतर गया। वह सोचने लगे-ओह, अनुपम सवारी है शक्रेन्द्र महाराज की। मेरा राज्य तो एक पंखुड़ी की भी बराबरी नहीं कर सकता। यह अंगूठी और यह कुंडल ! समग्र राज्य से भी अधिक मूल्यवान् हैं। मैं समझ रहा था कि जो कुछ हूँ सो मैं ही हूँ ! मगर यह तो निराला ही ढंग है। मेरे पास एक भी हाथी ऐसा नहीं है ! यहाँ चौंसठ सहस्र हाथी उपस्थित हैं !

इधर नरेन्द्र की भावना बदली और उधर महाप्रभु की मनोहर दिव्यध्वनि का घोष हुआ—

मान रे मानव ! मान करे मत;
तन धन यौवन सब पलायरे,
सूर्य की तीन अवस्था होवें,
बाग में फूल कुमलाय रे।

एक ही दिन में सूर्य की भी तीन अवस्थाएँ पलटती हैं। प्रभात के समय उसका वर्ण लाल होता है और किरणें सुकुमार होती हैं। मध्याह्न में वह तेज से अतीव जाज्वल्यमान हो उठता है और उसकी ओर आँख उठाकर भी देखना कठिन एवं हानिकारक होता है। संध्या के समय आकाश में विलीन होने को तैयार सूर्य का तेज मंद हो जाता है, जैसे उसका बुढ़ापा आ गया हो। इसी प्रकार उद्यान के फूल को देखिए। प्रथम कलिका के कलित रूप में दृष्टिगोचर होता है, फिर अपने विकास पर हँसता रहा है और अन्त में कुम्हला जाता है !

मिट्टी के मटके को देखिए। किसी में जल भरा जाता है, किसी में शक्कर या मुरब्बा भरते हैं। उस समय उसकी बड़ी सार-संभाल की जाती है। कहीं हल्का सा भी आघात उसे न लगने पावे। मगर जब वह फूट जाता है तो घूरे पर फैंक दिया जाता है और मिट्टी का मटका अन्त में मिट्टी में ही मिल जाता है।

राजा की रानी कैसे ठस्से से चलती है। धम्-धम् करती चलती है। मगर एक दिन कठोर चिताओं की तीव्र ज्वालाएँ उसे भस्म बना कर मिट्टी में मिला देती हैं।

और वह राजा साहब ! दुनिया को तुच्छ समझते थे और अपने आपको भूमि का मूर्त्तिमान् ईश्वर मानते थे कहते थे-किसकी हिम्मत है जो मेरा बाल भी बांका कर सके ! परन्तु मिट्टी में ऐसे मिले कि आज नामनिशान तक कहीं शेष नहीं है।

देखो, बालक के दिल में अहंभाव नहीं होता। वह नहीं समझता कि मैं भी कुछ हूँ; तो वह बड़े-बड़े राजाओं के रनवास में भी वेरोकटोक जा सकता है। उसके सब कुसूर माफ हैं। मगर जो अपने को ही सब कुछ समझता है, उसका सिर रहना भी कठिन है! जहाँ 'मैं' है वहाँ तू नहीं। अरे जीव, यह अभिमान घोर दुर-वस्था का कारण है, अधःपतन की ओर ले जाने वाला है और लघुता का जनक है, इस कारण इसे त्याग दे। प्रत्यक्ष में ही देख लो। हाथ में पाँच उंगलियाँ हैं और सबसे छोटी कनिष्ठा कहलाती है। कनिष्ठा उंगली कहती है-'मैं सबसे छोटी हूँ' तो उसको गहना पहनाया जाता है। मध्यमा उंगली अपने आपको बड़ी कहती है तो कोई गहना नहीं पहनाता।

देखो, रजकण हलके होने से उड़कर रईसों के भी सिर पर पहुँच जाते हैं; लेकिन पत्थर कठोर होने से ठोकरें खाते रहते हैं।

रावण के हृदय में कितना गर्व था उसने अभिमान में आकर सती सीता का अपहरण कर लिया! किन्तु उसका परिणाम क्या निकला? उसे यमराज के मुख में जाना पड़ा और उसके अहंकार की बदौलत सारे परिवार को नष्ट होना पड़ा!

ज्यादा मिठास के कारण तोता पींजरे में बंद किया जाता है। कौवे को कोई बंद नहीं करता।

अरे जीव! संसार में होने वाला प्रत्येक वस्तु का परिवर्त्तन तू प्रत्यक्ष देख रहा है, फिर भी गुमान करता है! क्या तुझे धन का अभिमान करना शोभा देता है? भइया, बड़े-बड़े लखपति शरणार्थी बनकर आज फटे हाल भटकते फिरते हैं।

क्या तू जवानी का घमंड करता है? जवानी का घमंड करने से पहले बूढ़ों से तो पूछ ले! वह भी एक दिन तेरे ही

समान जवान थे, पर आज उनकी क्या अवस्था है ? तू समझता है कि वही बूढ़े हुए हैं और तू सदा जवान ही बना रहेगा ? कभी बूढ़ा नहीं होगा ? जवानी तो समुद्र की हिलोर है-आई और चली गई। उसपर इतराना कैसा ?

दुनिया पर दृष्टि डाल कर देखोगे तो सब नाशवान् ही नाशवान पदार्थ दिखाई देंगे। तू दो दिन के लिए चाहे जहर घोल ले, चाहे अमृत। यह सब दो दिनों का मेला है। रावण का अहं-कार कितना टिका ?

आदिनाथ भगवान् के बलशाली पुत्र बाहुबलीजी अभि-मान न त्याग सके तो बारह महीने तक घोर तपश्चरण का कष्ट सहते रहे। जब मान छूटा तो केवलज्ञान होते देर न लगी। ब्राह्मी और सुन्दरी ने उनसे कहा—

वीरा म्हारा गज थकी ऊतरो।
गज चढ़े केवल न होसी रे॥

दोनों बहिनें दीक्षा लेकर आर्यिका बन चुकी थी। वे बाहु-बलीजी के निकट जाकर बोली-भैया, हाथी के ऊपर क्यों सवार हो ? नीचे उतरो। हाथी पर सवार रहना साधु को नहीं सोहता। हाथी पर चढ़े-चढ़े केवल ज्ञान नहीं होगा।

इतना कहकर दोनों साध्वियाँ चली गई। परन्तु बाहुबलीजी के विचार के लिए मसाला दे गई। उन्होंने सोचा-मैं जमीन पर खड़ा तपश्चरण कर रहा हूं और साध्वियाँ कहती है-गज से नीचे उतरो ! साध्वियों का वचन अन्यथा नही हो सकता, तो मैं किस गज पर सवार हूँ ?

आगे सोचा तो पता चला-ओह, यह अहंकार ही हाथी है। मैं इस हाथी पर सवार हूं।

यह सोच कर ज्योंही उन्होंने अहंकार का त्याग किया और भगवान् के निकट जाने के लिए आगे पैर रक्खा कि उसी समय केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया।

भाइयो ! आप में अगर अच्छाई है, असाधारणता है, सद्‌गुण है, तो आप उसमें अभिमान का कीड़ा मत लगने दो। यह अभिमान कीट आपके सद्‌गुण को नष्ट कर देगा, विकृत कर देगा, अगर वास्तविक दृष्टि से देखोगे तो आपको अवश्य ऐसा जान पड़ेगा कि अहंकार करने योग्य वस्तु ही आपके पास नहीं है। दुनिया में एक से एक बढ़कर सद्‌गुणी पड़े हैं, श्रीमन्त हैं, बलवान् हैं, विद्यावान् हैं। क्या तुम समझते हो कि तुम्हारा स्थान विश्व में अद्वितीय है ? कदाचित् ऐसा हो तो भी अहंकार के लिए कोई कारण नहीं है, क्यों कि जिस चीज के लिए तुम अहंकार करते हो, वह स्थायी नही है और तुम्हारी नहीं है।

आप कह सकते हैं कि वह चीज हमारी नहीं तो किसकी है ? जिस पर हमारा अधिकार है, जिसका हम उपयोग करते हैं, वह तो हमारी नहीं तो और किसकी मानी जाय ?

पर इस विचार के पीछे विवेक नहीं है, वस्तु स्वरूप का चिन्तन नहीं है। आप अपनी कल्पना के द्वारा परकीय पदार्थों को अपना समझ लेते हैं, यह बड़ा भारी भ्रम है और यही भ्रम आपकी समस्त आपत्तियों का प्रधान कारण है। धन, जन, मकान, दुकान आदि दूर की चीजों को छोड़िये और सिर्फ अपने शरीर पर ही विचार कीजिए, क्योंकि वह सब वस्तुओं की अपेक्षा निकट है। क्या आपका शरीर वास्तव में ही आपका है ? उस पर आपका अधिकार है ? वह आपकी इच्छा के अनुसार चलता है ? आपने कब चाहा था कि इसमें रोग उत्पन्न हो जाय ? कब चाहा

था कि यह दुर्बल हो जाय? कब चाहा था कि मेरी इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाएँ? कभी सोचा था कि सिर के बाल पक जाएँ तो अच्छा! जो शरीर को त्याग कर चले गये हैं, वे इच्छा से गये हैं या अनिच्छा से? अगर इस शरीर पर आपका अधिकार है तो इसे अपनी इच्छा के अनुसार चला कर देखो न! नहीं चलता तो कहना छोड़ दो कि यह हमारा है!

और जब शरीर का ही यह हाल है तो अन्य वस्तुओं की चर्चा ही क्या की जाय? वे तो स्पष्ट ही भिन्न दिखाई देती हैं। सच तो यह है कि जो वस्तु आपसे भिन्न हो सकती है, उसे अपनी कहना अज्ञान है। अपनी वस्तु अपने से कभी अलग नहीं होती और जो अलग हो सकती है, वह अपनी नहीं है। इस कसौटी पर कस कर देखो कि क्या तुम्हारा है और क्या नहीं है।

जब आपको यह ज्ञान हो जायगा कि हमारा क्या है और क्या नहीं है, तो भौतिक पदार्थों का अभिमान करना छूट जायगा। उस समय आप सोचेंगे कि जो वस्तु हमारी है ही नहीं, उसका अभिमान कैसा?

राजा दशार्णभद्र को अपने राजकीय वैभव का अहंकार हुआ, परन्तु इन्द्र महाराज ने उसे चूर-चूर कर दिया। तब वह सोचने लगे-मान तो रहा नहीं, अब घर जा कर भी क्या करूँगा? अब तो मुझे ऐसा कोई काम करना चाहिए जिससे इन्द्र को भी मेरे चरणों में गिरना पड़े। इन्द्र ने मेरा मान भंग किया है तो मुझे भी इन्द्र का मान भंग करना चाहिए। यह तभी हो सकता है जब मैं मान कषाय का परित्याग कर दूं।

राजा विचार में मग्न हो गया-बिगड़ी बात कैसे बनाई जाय? जो अपनी बात रख कर मरते हैं, उनका ही जीवन सफल होता है।

कायर की क्या ताकत है कि वह हाथी की झूल सिर पर रख सके ?

न हि वारणपर्याणं, वोढुं शक्तो वनायुजः ।

हाथी का पलान गधा नहीं ढो सकता ।

बहादुरी दिखाने के समय जो पैर पीछे नहीं रखते, उन्हीं शूरवीरों का काम सफल होता है । कोई कहता है-माँ मक्खी है । माता कहती है-बेटा, उड़ा दे । तब बेटा फर्माते हैं-माँ, मक्खियाँ तो दो हैं । इस प्रकार की कायरता प्रदर्शित करने वाले घर की बात नहीं रख सकते ।

तो राजा दशार्णभद्र ने विचार किया-मेरी बात कैसे रह सकती है ? लाख लाख प्रयत्न करने पर भी मनुष्य इन्द्र से नहीं जीत सकता । इन्द्र की विभूति की तुलना में मेरे पास क्या है । जो है वह फूल की पाखुड़ी की बराबर भी तो नहीं है । शक्रेन्द्र महाराज के पैर की एक जूती के बराबर भी मेरा वैभव नहीं है । भौतिक वैभव में मैं नहीं जीत सकता ।

राजा फिर सोचते हैं:—

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥
वरं मे अप्पा दंतो, संजमेण तवेण य ।
माहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहि य ॥

आत्मा का—अन्तःकरण की दुर्वासनाओं का, विकारों का, ही दमन करना चाहिए । यद्यपि आत्मा का दमन करना सरल नहीं, बहुत कठिन है, तथापि यह निश्चय है कि आत्म दमन करने

वाला ही इस लोक में और परलोक में सुखी होता है। जो आत्म दमन नहीं करता, उसका दमन वध-बन्धन द्वारा दूसरे करते हैं।

इस प्रकार का विचार आते ही राजा दशार्णभद्र ने मस्तक का मुकुट उतार दिया, कानों के कुंडल उतार दिये और शेष वस्त्राभरण भी उतार दिये। साधु का वेष धारण करके और दोनों हाथ जोड़कर, भगवान् के समक्ष खड़े होकर कहा—नाथ, मेरा भी उद्धार कीजिए। मुझे मुनि दीक्षा देकर कृतार्थ कीजिए। संयम के मार्ग पर लगाइए। जगत धोखे की टट्टी है। मैं इसमें नहीं रहना चाहता।

नरेन्द्र ने दीक्षा अंगीकार करली तो सुरेन्द्र ने सोचा—

देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो।

राजा की आत्मा धर्म के रंग में रँग गई है। अन्तःकरण में से अभिमान का विष दूर हो गया है। यह सोचकर इन्द्र ने उसी समय राजर्षि के चरणों में प्रणाम करके कहा—

भगवन्! आपने मेरा भी अभिमान गला दिया। आपके मुकाबिले में संसार में दूसरा नहीं है। कोई मुझसे होड़ करके जीत नहीं सकता। परन्तु आपने मुझे पराजित कर दिया। मुझमें बहुत बड़ी दैविक शक्ति है। बड़े-बड़े सामर्थ्यवान् देवता मेरे किंकर हैं। मेरे इशारे पर वे चमत्कार कर सकते हैं, किसी को भी नीचा दिखा सकते हैं। परन्तु आपने जो कदम उठाया, वह मेरी शक्ति से बाहर है। आपकी इस शक्ति का मुकाबिला मैं नहीं कर सकता। मैं संयम का पालन नहीं कर सकता। आज तक मैंने इस जीवन में कभी पराजय का मुँह नहीं देखा। किन्तु आज आपके समक्ष अपनी पराजय अंगीकार करते मुझे कोई लज्जा नहीं है, कोई संकोच नहीं है। मैं प्रसन्नता पूर्वक अपनी पराजय और आपकी

विजय स्वीकार करके आपके चरणकमलों में प्रणाम करता हूँ। आपकी पराजय जैसे आपके महान् लोकोत्तर अभ्युत्थान का कारण बनी, उसी प्रकार मेरी पराजय भी मेरा उत्थान करे! देव, आपको मेरा कोटिशः प्रणाम !

देख लो भाइयों! मर्द की मूंछ रह गई। इन मूछों की ही कीमत है। जो अपनी टेक रखता है, अपनी बात सुधारता है और अपने गौरव के लिए बड़े से बड़ा उत्सर्ग करने को तैयार रहता है, उसी की मूंछ रहती है। ऐसा न हो तो मूंछ और गधे की पूंछ में क्या अन्तर है।

मान की प्रशस्त भाव से रक्षा करने पर शक्रेन्द्र महाराज ने बार-बार राजर्षि दशार्णभद्र का अभिनन्दन किया, धन्यवाद किया और गुणगान किया। अन्त में पुनः पुनः अपराध के लिए क्षमायाचना करके वह स्वर्ग की ओर चल दिये और देखते-देखते गायब हो गये।

तात्पर्य यह है कि जैसे मनुष्य में अनेक प्रकार की कर्म-जनित दुर्बलताएँ विद्यमान रहती हैं, उसी प्रकार देवों में भी रहती हैं। देवगण भी पूरे सुखी नहीं हैं। उन्हें भी अनेक प्रकार की उपाधियाँ लगी हैं। सब से बड़ी बात तो यही है कि देवपर्याय भी अल्पकालीन है और उसका अन्त आने पर फिर मनुष्य तिर्यंच आदि के दुःखों का सामना करना पड़ता है।

शेष तीन गतियों में होने वाली नाना प्रकार की पीड़ाओं का वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। मनुष्य और तिर्यंच गति के दुःख आपके सामने हैं ही। नरक गति की यातनाएँ तो इतनी उग्र और भयानक हैं कि उनका स्मरण भी हृदय को हिला देता है।

इस प्रकार परलोक का स्वरूप यथार्थ रूप से बतलाने वाली कथा परलोक संवेगनी कथा कहलाती है। भगवान् तीर्थङ्कर देव के मुखारविन्द से यह कथा सुनने का सौभाग्य जिन्हें मिला, उनके पुण्य की महिमा कहाँ तक गाई जाय ?

भगवान की वाणी अमित प्रभाव वाली होता है। उसका प्रभाव भगवान् के सर्वोत्कृष्ट व्यक्तित्व के कारण अनन्त गुणा बढ़ जाता है। अतएव उसे श्रवण कर श्रोतृ समूह अपूर्व आनन्द का लाभ करता है। भगवान जगत् के कल्याण के लिए ही उपदेश करते हैं।

संवेगनी कथा को श्रवण करने से लोक संबंधी एवं शरीर संबंधी वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति होती है। वास्तविक ज्ञान मोह के पर्दे को उठा देता है। मोह के अनेकानेक शस्त्रों में से अज्ञान ही सबसे बड़ा शस्त्र है। इसी शस्त्र की सहायता से मोह जगत् के जीवों को अंधा-विवेकविकल बना देता है। और जब अज्ञान का अंधकार दूर होता है और वस्तु का सत्य स्वरूप सामने आ जाता है तो मोह अपने आप ही विगलित हो जाता है। वास्तव में संसार की कोई वस्तु ऐसी नहीं जो मोहित करने योग्य हो या ज्ञानी जनों के चित्त को लुभा सके। ज्ञानियों की दृष्टि में परपदार्थ मात्र उपेक्षणीय या हेय हैं। उपादेय है तो वह शुद्ध स्वस्वरूप ही है। वह अनिर्वचनीय अमित आनन्द का धाम है। परन्तु कर्मों की मलीनता ने उसे आच्छादित कर दिया है। जीव उसका अनुभव नहीं कर पाता। इसी कारण वह बाह्य पदार्थों में लुभाता है।

संवेगनीकथा से जब शरीर और लोक की यथार्थता का भास हो जाता है तो फिर मोह जाग नहीं सकता और वैराग्य की वृद्धि होती हैं। इसी कारण भगवान् समवसरण में विराजमान होकर संवेगनी कथा फर्माते हैं।

भाइयो ! वही भगवान के वचन परम्परा से आप सुन रहे हैं । इन्हें सुनकर मोह को त्यागो और संवेग का भाव बढ़ाओ तो आनन्द ही आनन्द होगा ।

ब्यावर
१६-११-४७



विचारों का वैभव



स्तुतिः—

मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजात-
सन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिरुद्धा ।
गन्धोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता,
दिव्या दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं–हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

तीर्थंकर भगवान् जब समवसरण में विराजमान होते हैं तो देवगण भक्तिभाव से प्रेरित होकर पुष्पों की वर्षा करते हैं। पुष्प-वृष्टि भी भगवान् के अष्ट महाप्रतिहार्यों में से एक है। देवों के द्वारा की हुई यह पुष्पवर्षा समवसरण में बड़े ही सुन्दर वातावरण का

निर्माण कर देती है। मन्दार, सुन्दर, पारिजात और सन्तानक नामक कल्पवृक्षों के फूल अचित्त होने पर भी मनोहर सौरभ से युक्त होते हैं। यह पुष्प अपने सौरभ के मिष से तीर्थंकर भगवान् के यश-सौरभ का विस्तार करते हैं।

यह भगवान् का अतिशय है। जो इस अलौकिक अतिशय से सम्पन्न हैं, उन्हीं ऋषभदेव भगवान् को बार-बार हमारा नमस्कार हो।

देवताओं के द्वारा बरसाये गये यह फूल सफेद रंग के होते हैं। वे बगीचों के फूल नहीं थे। फूलों की वर्षा होती थी तो यह नहीं कि वे भगवान् के सिर के ऊपर ही या साधु-साध्वियों के ऊपर या परिषद् के ऊपर ही बरसते हों। आसपास सर्वत्र फूलों का ढेर लग जाता था।

श्वेतवर्ण के पुष्प तीर्थंकर भगवान् की परम शुक्ललेश्या के सूचक हैं। यह शुक्ल लेश्या क्या है? यह समझने के लिए लेश्या को समझना आवश्यक है।

कषाय के रंग में रँगी हुई मन, वचन, काय रूप योग की प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है। लेश्या एक प्रकार से अध्यवसायों का स्वरूप है। यद्यपि जगत् के अनन्तानन्त जीवों के अध्यवसाय इतने बहुत हैं कि उनकी गणना नहीं की जा सकती, तथापि उन्हें समझाने के लिए भगवान ने उनका वर्गीकरण कर दिया है। स्थूल रूप से अध्यवसायों की विशुद्धि-अविशुद्धि की तरतमता को लेकर छह विभाग किये गये हैं-(१) कृष्ण लेश्या (२) नीललेश्या (३) कापोत लेश्या (४) तेजो लेश्या (५) पद्म लेश्या और (६) शुक्ल लेश्या।

इन छह भेदों में प्रथम कृष्ण लेश्या सब से अधिक मलीन और कलुषित भावों की सूचक है और छठी शुक्ल लेश्या सर्वाधिक निर्मल अध्यवसायों का प्रतीक है। बीच की चारों लेश्याएँ मध्यम श्रेणी के अध्यवसायों को सूचित करती है, परन्तु उनमें जो तारतम्य है, वह उनके नाम से ही प्रकट हो जाता है।

छह भेद स्थूल हैं। इनमें से प्रत्येक लेश्या के अनन्त-अनन्त अध्यवसाय स्थान हैं-डिगरियाँ हैं।

दूसरे प्रकार से लेश्या के दो भेद भी शास्त्र में बतलाये गये हैं-द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। द्रव्य लेश्या पुद्गलों की एक विशिष्ट प्रकार की परिणति है और भाव लेश्या अन्तःकरण की वृत्ति है। द्रव्य लेश्या जीवन पर्यन्त स्थिर रह सकती है और रहती भी है, मगर भावलेश्या अधिक देर नहीं ठहरती। जीव के परिणामों के अनुसार वह पलटती रहती है। अन्तमुहूर्त्त से अधिक काल तक वह नहीं स्थिर रहती।

अभी लेश्या का जो लक्षण बतलाया गया है उस पर ध्यान देंगे और मनन करेंगे तो सहज ही एक प्रश्न आपके मन में उठ सकता है। वह यह है कि अरिहन्त भगवान कषाय से सर्वथा अतीत होते हैं। दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में मोहनीय कर्म का पूर्ण रूपेण क्षय करके ही वह बारहवें और फिर तेरहवें गुण स्थान में पहुँचते हैं। अतएव तेरहवें गुण स्थान में वे पूर्ण क्षीण कषाय अवस्था का अनुभव करते हैं। यद्यपि तेरहवें गुण स्थान में योगों की विद्यमानता है, मगर वह योग प्रवृत्ति कषाय से रंगी हुई नहीं होती। जब सयोग केवली भगवान् की योग प्रवृत्ति कषाय से अनुरंजित नहीं है तो उसे लेश्या कैसे कहा जा सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—भगवान् अरिहन्त की योग प्रवृत्ति में कषाय का पुट नहीं है, यह सत्य है। उनमें मुख्य लेश्या का लक्षण घटित नहीं होता, यह भी सत्य है। मगर हमें यह बात भी ध्यान में रखना चाहिए कि अरिहन्तदशा प्राप्त होने से पहले उनकी योगप्रवृत्ति कषाय से रंगी हुई थी। वही योगप्रवृत्ति अब निष्कषाय अवस्था को प्राप्त हुई है। ऐसी अवस्था में भूतग्राहक नय की अपेक्षा उसे लेश्या मानने में कोई हानि नहीं है। यही कारण है कि तेरहवें गुणस्थान में उपचार मात्र से लेश्या का अस्तित्व स्वीकार किया गया है।

इसी प्रकार अरिहन्त भगवान् में शुक्लध्यान का जो अस्तित्व है, वह भी उपचार से ही है। वस्तुतः शैलेशीकरण से पूर्व उनमें ध्यान होता नहीं है।

हाँ, तो शुक्ल लेश्या जब आती है तो जीव के परिणाम उच्च कोटि के हो जाते हैं। इस कारण शुक्ललेश्या वाला जीव नरक में नहीं जाता। अगर वह देवगति में जाय तो वैमानिक देव होता है और वैमानिक देवों में भी पंचम देवलोक तक जन्म नहीं लेता। वह छठे देवलोक से लेकर सर्वार्थसिद्ध विमान तक के किसी स्वर्ग में उत्पन्न होता है।

शुक्ल लेश्या श्वेत पुष्प के समान है। मनुष्य को विचार करना चाहिए कि सफेद चीज कैसी सुन्दर लगती है! यह विचार कर उसे अपने हृदय को भी श्वेत, निर्मल एवं निष्कलुष बनाना चाहिए। उसमें किसी दूसरे रंग की मिलावट नहीं होनी चाहिए। कदाचित् पद्म लेश्या आ जाय तो वह भी सफेद ही होती है, मगर शुक्ल लेश्या की होड़ वह नहीं कर सकती।

पूर्वोक्त छह लेश्याओं में प्रारंभ की तीन लेश्याएँ अशुभ, अप्रशस्त और अधर्म लेश्याएँ तथा अन्तिम तीन शुभ, प्रशस्त

और धर्मलेश्याएँ कहलाती हैं। शास्त्रों में इन लेश्याओं का बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। प्रज्ञापनासूत्र में लेश्यापद पृथक् ही है। वहाँ इनके वर्ण रस, गंध और स्पर्श आदि का बड़ा सुन्दर विवेचन है। वह विवेचन आत्मकल्याण के अभिलाषी जीवों के लिए समझने योग्य है। उसको समझने की सार्थकता इस बात में है कि अप्रशस्त लेश्याओं से बचकर प्रशस्त, प्रशस्ततर और प्रशस्ततम लेश्या में वर्तना चाहिए।

शुभ लेश्या के साथ मरा हुआ जीव दुर्गति में नहीं जाता, लेकिन ऐसी लेश्या उन्हीं जीवों को आती है जिनकी पहले शुभ आयु बँध गई हो या बंधने वाली हो। जो पहले अशुभ आयु का बंध कर चुके हैं, अन्त में उनकी लेश्या अशुभ हो जाती है। यों तो जीवन में हजारों वार लेश्या का परिवर्त्तन होता रहता है, परन्तु अन्तिम समय में लेश्या को सँभालने की खास आवश्यकता है। यदि साधुपन या श्रावकपन पाला है और अच्छी करनी की है तो मृत्यु के समय कृष्णलेश्या नहीं आ सकती। कदाचित् कृष्णलेश्या आएगी तो उस समय मृत्यु नहीं होगी और उसके पलट जाने पर ही मृत्यु होगी। भगवान् फर्माते हैं कि कृष्णलेश्या में धर्मी पुरुष का मरण नहीं होगा।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने सातवें नरक के योग्य कर्मदलिक इकट्ठे कर लिये थे। ऐसे कर्मदलिक कृष्णलेश्या के बिना नहीं होते, तथापि उस समय उनकी मृत्यु नहीं हुई। ऐसा हो तो जीव की गति ही बिगड़ जाय।

राजा श्रेणिक ने सम्यक्त्व प्राप्त करने से पूर्व ही नरक की आयु का बंध कर लिया था। उस समय जैन धर्म को उन्होंने अंगीकार नहीं किया था। जब वह शिकार खेलने गये, उसी समय आयु का बंध हो गया।

क्या कभी जैन धर्म का अनुयायी शिकार खेलता है? कदापि नहीं। जैन धर्म दया धर्म है। उसमें करुणा की प्रधानता है। अहिंसा उसका प्राण है। अहिंसा और दया से ही उसकी वर्णमाला शुरु होती है। अतएव जैन शिकार नहीं खेलता।

शिकार घोर निर्दयता का कृत्य है। मनोरंजन के लिए मूक पशुओं के प्राणों के साथ खिलवाड़ करना क्या साधारण पाप है। शिकार सात कुव्यसनों में भी गिना गया है। वास्तव में इससे अधिक घृणित अन्य कोई दुर्व्यसन नहीं हो सकता। बेचारे वाचा-हीन, साधनहीन, असहाय और निरपराध पशु जंगल में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। मनुष्य का कुछ बिगाड़ करके नहीं आते और कभी कुछ थोड़ा-बहुत बिगाड़ भी करते हैं तो भी अपना पेट भरने के सिवाय ज्यादा कुछ नहीं करते। फिर भी निर्दय लोग उनके प्राणों को लेकर अपना मनोरंजन करते हैं। यह मनोरंजन मनुष्यता नहीं, पिशाच वृत्ति है,दानवता से भी अधिक नीचता है।

मनुष्य में अधिक शक्ति है तो वह शक्ति दुर्बलों की सहायता में व्यय होनी चाहिए, न कि उन्हें सताने में, उनका गला घोटने में!

जैनधर्म के अनुयायी मनुष्य में इतना विवेक अवश्य ही उत्पन्न हो जाता है कि वह शिकार जैसा नृशंस कृत्य नहीं करता। राजा श्रेणिक ने शिकार करते समय नरकायु का बंध किया था, अतएव इसी से सिद्ध हो जाता है कि उस समय तक वह जैनधर्म का अनुयायी नहीं बना था। शिकार के समय खोटी लेश्या ही हो सकती है। वहाँ शुभ लेश्या का क्या काम है? संयोगवशात् उसी समय आयु कर्म का बंध हो गया, अतएव श्रेणिक को नरक में जाना पड़ा।

भाइयो! आठ कर्मों में से सात कर्मों का तो निरन्तर बंध होता रहता है, परन्तु आयुकर्म जिंदगी में एक बार ही बंधता है।

जब वर्तमान भव की आयु के दो भाग व्यतीत हो जाते हैं और एक भाग शेष होता है, उस समय आयु कर्म का बंध होता है। पर यह आवश्यक नहीं कि उस समय आयुबंध हो ही जाय। कदाचित् उस समय बंध न हो तो शेष आयु के तीन भागों में से दो भाग समाप्त हो जाने और एक भाग शेष रहने पर होता है। उस समय फिर बंध टल जाय तो आगे भी इसी प्रकार तीसरे भाग में आयुबंध हो सकता है। उस काल में भी बंध टल जाय तो मरण होने से अन्तमुहूर्त्त पहले आयु का बंध होता ही है। उस समय यह बंध नहीं टल सकता। आयु बांधे बिना जीव की मृत्यु नहीं हो सकती। हाँ, मुक्त होने वाले जीव ही आयु बंध नहीं करते।

अन्यान्य कर्मों की उत्तरप्रकृतियाँ तो आपस में बदल जाती हैं, जैसे सातावेदनीय प्रकृति असातावेदनीय के रूप में परिणत हो जाती है और असातावेदनीय सातावेदनीय के रूप में, मगर आयुकर्म में ऐसा संक्रमण नहीं होता। एक बार जो आयु बँध गई सो बस पत्थर की रेखा हो गई। लाख प्रयत्न भी उसे पलट कर किसी दूसरे रूप में नहीं कर सकते।

यही कारण था कि राजा श्रेणिक बाद में सम्यग्दृष्टि हो गये, फिर भी उनका आयुबंध न बदल सका। कर्मबंध के समय अगर अच्छी लेश्या होती तो नरकायु का बंध न होता।

इस विवेचना से हमें क्या शिक्षा लेनी है? प्रत्येक तत्त्व को समझने का असली लाभ यही है कि उससे हम अपने जीवन को ऊँचा उठाने योग्य सार ग्रहण कर सकें। तो इस तत्त्व को समझने का सार यह है कि हम प्रत्येक समय अपनी लेश्या को सँभालते रहें और उसे कभी अशुभ न होने दें। जब वह अधर्म की ओर जाने लगे तो फौरन उसे रोक दें और निश्चय करें कि—नहीं, ऐसा गंदला

विचार हम पुनः कदापि न उत्पन्न होने देंगे। ऐसी सावधानी रखने से ही भविष्य सुधर सकता है।

जब प्रशस्त लेश्या होती है तो जीव नरकायु का बंध नहीं करता। वह तो ऊँचे दर्जे की चोज है। जब आदमी लखपति हो जाता है तो दो-चार हजार वाले या छोटे से गांवड़े में उसके लड़के की सगाई नही होती। फिर तो लखपति के घर से ही पैगाम आता है। इसी प्रकार कोई जीव साधु या श्रावक के व्रत अंगीकार करले और उनका विधिवत पालन करे तो उसको नरक की सगाई नहीं आ सकती। उस मालदार के लिए तो फर्स्ट क्लास का डिब्बा तैयार है। यदि भूल-चूक से थर्ड क्लास में चला जाय तो उसके पोजीशन में फर्क आ जाता है।

छोटी सादड़ी (मेवाड़) के सेठ नाथूलालजी गोदावत करोड़पति सेठ थे। पर उन्हें अपनी सेठाई का गरूर नहीं था। सीधे-साधे स्वभाव के थे और पुरानी पद्धति का उनका रहन-सहन था। वे एक बार उसी सीधी-सादी पोशाक में, साथ में एक कोथला लेकर बम्बई के लिए रवाना हुए। बम्बई वालों को सेठ साहब के रवाना होने का तार मिल गया। बम्बई वालों ने स्टेशन पर आकर उनका स्वागत करने का निश्चय किया। मोटर लेकर सामने आये। जब गाड़ी स्टेशन पर पहुँची तो लोग सेठ साहब को खोजने लगे। उन्हें कोई पहचानता नहीं था। वे लोग किसी बड़े ठस्सेदार सेठ के रूप में उन्हें देखना चाहते थे। परन्तु सेठजी एक देहाती की तरह प्लेटफार्म से बाहर गये तो किसी ने उन पर दृष्टि तक न डाली। सेठजी ने भी किसी को तलाश न किया और चुपचाप एक गाड़ी भाड़े करके अपने बंगले पर जा पहुँचे। स्वागत करने वाले निराश होकर लौटे तो उन्हें पता चला कि सेठ साहब तो अपने बंगले पर आ पहुँचे हैं।

तात्पर्य यह है कि उच्च विचार वाले लोग दिखावा नहीं करते। वे ऊँची से ऊँची स्थिति में भी घमण्ड नहीं करते। सहज भाव में रहते हैं। इसी कारण वे अशुभ भावनाओं से बचे रहते हैं और परिणामस्वरूप परलोक में भी ऊँची स्थिति पाते हैं। आडम्बर क्षुद्रता का द्योतक है और क्षुद्रता अशुभ लेश्या का चिह्न है। शुभ लेश्या वाले जीव में क्षुद्रता नहीं होती।

तो जीव जब ऊँचे दर्जे पर पहुँच जाता है, अर्थात् उसकी भावनाएँ उच्च कोटि की रहती हैं, तो उसे नरकगति का बन्ध नहीं होता। उस समय तो बड़े घर के साथ ही उसका संबंध होता है। हीरा जिस जौहरी के पास जायगा, ऊँची जगह ही जड़ा जायगा।

लोकोक्ति है–'अन्त मता सो गता।' अर्थात् अन्तिम समय में जैसी मति होगी वैसी ही गति होगी। यह उक्ति सत्य तो है ही, मगर इसका रहस्य सब लोग समझते नहीं हैं। कई तो ऐसी भी धारणा वाले हैं जो समझते हैं कि जिंदगी भर खूब खाओ, पीओ, आमोद-प्रमोद करो, भोग विलास करो, गुलछर्रे उड़ाओ, और अन्त में अच्छे विचार कर लो तो बस बेड़ा पार है! क्योंकि अन्तिम मति के अनुसार गति होती है। पहले की मति किस प्रयोजन की नहीं है!

इस उक्ति का ऐसा अर्थ निकालने वाले बड़े भ्रम में हैं। उन्हें समझना चाहिए कि जिसने अशुभ आयु का बंध कर लिया है, जो पापों में ही निरन्तर निरत रहा है जिसने धर्म का आचरण नहीं किया है और संक्षेप में जिसने अपने जीवन को नहीं सुधारा है, उसकी मति अन्त में अच्छी हो ही नहीं सकती। उसके बहुत चाहने पर भी उसकी मति बिगड़ जायगी और फलस्वरूप गति भी बिगड़ जायगी। जिसका जीवन सुधरा है, उसकी मृत्यु सुध-

रेगी। सहसा उसमें परिवर्त्तन नहीं हो सकता अतएव जिसे अपनी गति सुधारनी है उसे अपनी मति सुधारनी चाहिए और जिसे मति सुधारनी है उसे अपना जीवन सुधारना चाहिए। इस दृष्टि से पूर्वोक्त उक्तियाँ बोली जा सकती है—

अन्त मता सो गता,
अन्त गता सो मता।

इसका अभिप्राय यह होगा कि अन्त काल की मति के अनुसार गति होती है, मगर अन्त काल में मति वैसी ही हो जाती है जैसी गति होने वाली हो।

इससे स्पष्ट है कि जिन्हें अपना परभव सुधारना है, उन्हें इह भव सुधारना चाहिए। जीवनकाल को सुधारे बिना ही अगर मरणकाल सुधर सकता होता तो शील पालने, तपस्या करने, दान देने, दया करने और शुभ भावना भाने की आवश्यकता ही क्या थी? फिर तो जिंदगी में किये गये अच्छे बुरे कर्म निष्फल ही हो जाएँगे और अन्त समय की ही भावना काम की ठहरेगी। परन्तु ऐसा हो नहीं सकता।

आप जानते हैं कि सेना का सिपाही जब भर्ती होता है तो उसे शस्त्रास्त्र चलाने आदि की अच्छी शिक्षा दी जाती है। शिक्षित होने पर वह आराम से रहता है, किन्तु जब लड़ाई का समय आता है और मोर्चे पर जाना पड़ता है और शत्रु से जूझना पड़ता है तो उसका पहले किया हुआ अभ्यास ही काम आता है। कोई सिपाही चाहे कि जब मोर्चे पर जाएँगे और लड़ने का समय आ जायगा तब लड़ने की कला सीख लेंगे, तो यह नही होने का। वह सफल मनोरथ नही हो सकता। उस

अनाड़ी को बुरी असफलता के साथ प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा। इसी प्रकार जो लोग सोचते हैं कि अभी मजा मौज उड़ा लें, मरते समय ठीक ठाक कर लेंगे, वे भी मानों अपने पैरों पर कुठाराघात कर रहे हैं।

विद्यार्थी साल भर पढ़ता है और फिर परीक्षा देता है, परीक्षा देते समय उसे प्रश्नों का जो उत्तर याद आता है, उसी पर उसका उत्तीर्ण होना निर्भर है। उत्तर सही याद आया तो उत्तीर्ण होता है और गलत याद आया तो अनुत्तीर्ण हो जाता है। अब अगर कोई विद्यार्थी ऐसा सोचे कि उत्तीर्णता-अनुत्तीर्णता तो परीक्षा के समय याद रहने या न रहने पर निर्भर है, पहले पाठ याद करने से क्या लाभ है? ऐसा सोचकर वह साल भर मौज करता रहे और पढ़ना-लिखना छोड़ बैठा रहे तो क्या परीक्षा के समय लाख प्रयत्न करने पर भी उसे पाठ याद हो सकेगा? कदापि नहीं। उसे असफलता का ही मुख देखना पड़ेगा। वह परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हो सकता।

यद्यपि यह सही है कि परीक्षा के समय की स्मृति से ही उत्तीर्णता प्राप्त होती है, मगर यह भी तो सही है कि परीक्षाकाल की स्मृति पहले के अभ्यास पर निर्भर है। अतएव परीक्षा के समय स्मृति को जगाने के लिए जैसे वर्ष भर अभ्यास करने की आवश्यकता है, उसी प्रकार मृत्यु के समय शुभ मति उत्पन्न करने के लिए जीवन काल में शुद्ध बुद्धि रखने की आवश्यकता है। जिसका जीवन मलीन है, जिसकी भावना कलुषित होती है, जो पापमय विचारों की दुनिया में विचरण करता रहता है, और जो धर्म का अभ्यास नहीं करता, अन्तिम समय में उसकी मति प्रशस्त नहीं रहती और इसी कारण उसकी गति भी प्रशस्त नहीं होती।

सिद्धान्त में बतलाया गया है कि जीव की जैसी गति होने वाली है, वैसी ही उसकी लेश्या अन्तर्मुहूर्त्त पहले हो जाती है।

मृत्यु का समय एक कठिन मोर्चा है-मिथ्यादृष्टि के लिए भी और सम्यग्दृष्टि के लिए भी। वह जीवन की कसौटी है, परीक्षा है। विरले वीर ही उस कसौटी पर खरे उतरते हैं। विरले साधक ही उस परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं।

मृत्यु के समय जो जीव शरीर में से निकला है, वह मिथ्यादृष्टि था या सम्यग्दृष्टि? वह नरक में गया है या स्वर्ग में गया है? या किसी अन्य गति में गया है? इन सब बातों की परीक्षा कैसे हो सकती है? श्रीमद् ठाणांग सूत्र में, पाँचवें स्थानक में इस बात की एक परीक्षा बतलाई गई है, जो इस प्रकार है—

जीव शरीर से निकलता है तो कोई पैरों की तरफ़ से निकलता है, कोई पैरों से लेकर कमर तक के भाग से निकलता है, कोई कमर से लेकर गले तक के भाग से निकलता है, कोई मस्तक से निकलता है और कोई सर्वाङ्ग से निकलता है। इनमें से पैरों से निकलने वाला नरक गति में जाता है। जीव पैरों से निकला है, इस बात की पहचान यह कि उसके शेष अंग ठंडे पड़ जाते हैं और सिर्फ पैर कुछ समय तक गर्म रहते हैं। यही पहचान अन्यान्य अंगों से निकलने के विषय में समझनी चाहिए। जीव शरीर के जिस हिस्से से निकलता है, उसका वह हिस्सा गर्म रहता है और बाक़ी के हिस्से ठंडे पड़ जाते हैं।

जो जीव पैरों से ऊपर और कमर से नीचे तक के हिस्से से निकलता है, समझना चाहिए कि वह स्थावर योनि में, कीड़ों-मकोड़ों की योनि में, कुत्ता या गधा की योनि में, गाय भैंस घोड़ा हाथी आदि पशुओं की योनि में या पक्षियों की योनियों में, अर्थात

तिर्यंचगति में उत्पन्न हुआ है। जो जीव कमर से ले कर गले तक के किसी भाग से निकलता है, समझ लो कि वह मनुष्यगति में उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार जो सिर से निकलता है, वह देवगति में जन्म लेता है। जो महाभाग केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त करके मोक्ष में जाते हैं, वे सर्वाङ्ग से निकलते हैं।

यह भगवान् की वाणी है और आगम का कथन है। कितनी बढ़िया पहचान बतलाई है! शरीर को हाथ लगाइए और मालूम कर लीजिए कि मृतात्मा ने कौन सी गति पाई है।

बहिनो, तुम भी सुन लो और याद रख लो। आखिर इस झौंपड़े को तो त्यागना ही पड़ेगा।

बहुत बार लोग चक्कर में पड़ जाते हैं और निर्णय नहीं कर पाते कि मनुष्य वास्तव में मर गया है अथवा मूर्छित होने के कारण मृतक सा प्रतीत होता है? इसकी भी एक परीक्षा है। जीवित अवस्था में कान की लौ हमेशा ठंडी रहती है, और जिस समय वह गर्म हो जाय तो समझना चाहिए कि अब चिदानन्दजी इस घर से अन्यत्र कूच कर गये हैं।

भाइयो! एक न एक दिन इस शरीर का त्याग अवश्य करना है। इस मकान को छोड़कर किसी दूसरे मकान में बसना ही पड़ेगा। मगर कुछ साथ लेकर जाया जाय तो अच्छा रहेगा। खाली जाने में मजा नहीं है। आपकी क्या सलाह है? विदेश यात्रा के लिए जाने वाले को पहले रकम का प्रबन्ध करके जाना होता है। इस प्रकार जाने वाले न मार्ग में कष्ट पाते हैं और न मंजिल पर पहुँच कर। मगर जो खाली जेब चल पड़ता है, उसे मार्ग में भी और मंजिल पर पहुंचने पर भी बड़ा कष्ट होता है। यह तो आप भली भाँति जानते और समझते हैं। तो फिर अपनी महायात्रा के संबंध में क्यों फिक्र नहीं करते?

आपके मन में यह तो नहीं है कि दूसरों को ही जाना पड़ेगा और मैं तो सदा यहीं रहूँगा ?

'नहीं, यह असंभव है।'

तो फिर पहले से प्रबन्ध कर लो न भाई ! ऐन मौके पर तो कुछ होगा नहीं। फिर कौन जानता है कि अन्तिम समय में क्या स्थिति होगी ? सयाने और समझदार हो तो मेरी बात पर ध्यान दो। यहाँ से जाने के बाद भी इस बात पर विचार करना। ठीक मालूम हो तो अब तक के जीवन के तौर-तरीके को बदल डालना और परलोक में हितकर हो सकें, ऐसे भी काम करना। मैं यह तो नहीं कह रहा कि सब साधु बन जाओ, मगर गृहस्थावस्था में जो धर्म साधना हो सकती है, उससे विमुख मत रहो। उसकी ओर पूर्ण ध्यान दो। धर्म की उपेक्षा मत करो।

आया मुट्ठी बांध के रे जायगा हाथ पसार।

जो कुछ भी लाये थे वह भोग चुके हो। इस जन्म में जो होना था सो हो चुका। अब दूसरी मुसाफिरी करनी है। उसके लिए क्या प्रबंध किया है ? एकाध साइकिल खरीदनी हो तो खरीद लो। आटा-सामान बाँधना हो तो अभी समय है। अजमेर में तो उधार भी मिल सकता है, फिर भी जाते हो तो पाँच रुपया साथ ले जाते हो। किन्तु अब तो नयाशहर जाना पड़ेगा। वहाँ सभी नये-नये मिलेंगे, सभी अपरिचित होंगे। सारा ढंग नया होगा। उधार मिलने की कुछ भी संभावना नहीं है। तो फिर वहाँ के लिए क्या ले जा रहे हो ?

देखो, जम्बू कुमार गये तो पूरा लेटर बॅक्स भर कर ले गये। शालिभद्र तो ऊँचे दर्जे के सेठ थे। उन्होंने भी रत्नों के महल

छोड़ कर संयम ग्रहण कर लिया। कोई कह सकता है कि वे कायर थे, इस कारण घर छोड़कर निकल गये। हम कायर थोड़े ही हैं जो घर छोड़ जाएँ! ठीक है। आप बड़े बहादुर हैं जो अपनी ही इन्द्रियों की दासता नहीं त्याग सकते। जिस मन को गुलाम बनाना चाहिए, उसी के गुलाम बनने में आप अपनी बहादुरी समझते हैं।

भाई, बुरे-भले कामों का विवेक करो। जीव बुरे काम आप ही सीख जाता है और भले काम सीखने में कठिनाई होती है।

एक बहिन ने अपने भाई से कहा-यह तुम्हारा भाणेज (भागिनेय) है, इसे होशियार कर दो। मामा अपने भागिनेय को होशियार करने के लिए साथ ले गया। मामा के यहाँ चोरी-ठगाई का धंधा था। वह होशियार करेगा तो इसी काम में करेगा!

कुछ दिन बाद दोनों ने बाहर जाने का विचार किया। दोनों घर से निकल पड़े। तब भागिनेय ने कहा-मामाजी आटा-दाल तो बांध लो!

मामा ने कहा-अगर आटा-दाल साथ लिया तो ठग ही क्या कहलाए? अतएव उसकी आवश्यकता नहीं है। आगे जो होगा, देखा जाएगा।

चलते-चलते रास्ते में एक नदी आई। उसमें खरबूजे, तरबूज और ककड़ियाँ थीं। भागिनेय ने कहा-मामाजी, भूख लग रही है।

मामा बोला-अच्छा, तजवीज़ करता हूँ।

यह कह कर वह एक ककड़ी तोड़ लाया और भागिनेय को दे कर बोला-मैं बाहर जाकर अभी आता हूँ। फिर अपन नाश्ता करेंगे।

था। साधु-सन्तों को ढोंगी और पाखण्डी समझ कर कभी उनके पास पैर भी नहीं रखता था। उसकी क्रूरता इतनी विख्यात हो चुकी थी कि कोई सन्त-महात्मा उसे उपदेश देने का साहस नहीं करता था। प्रजा उससे तंग आ गई थी। पशुओं और पक्षियों की खैर नहीं थी। तात्पर्य यह है कि घोर अधर्मनिष्ठ और पापी मनुष्यों में जो लक्षण पाये जाते हैं, वे सभी उस राजा में मौजूद थे।

मगर सौभाग्य से उसे गुरु मिल गये केशी श्रमण। केशी स्वामी बड़े भाग्यवान् सन्त थे। अत्यन्त प्रभावशाली, तेजस्वी और निर्भीक। राजा की प्रकृति में तमो गुण की मात्रा अत्यधिक बढ़ी हुई थी। उस पर उसी व्यक्ति का प्रभाव पड़ सकता था जिसमें सतो गुण की मात्रा उसके तमोगुण की मात्रा से भी अधिक हो। सामान्य सतो गुणी भी उससे दब जाता था। केशी श्रमण ऐसे महात्मा थे जिनका सात्विक भाव राजा के तामस भाव से बहुत अधिक था। अतएव एक ही बार के संवाद ने राजा को प्रभावित कर लिया। वह प्रभावित ही नहीं हुआ, उनका चेला भी बन गया।

चित्त प्रधान की धर्मनिष्ठा के कारण मुनीन्द्र और नरेन्द्र का मिलन हुआ। सर्वप्रथम नरेन्द्र ने कहा—आप काया और जीव को पृथक्-पृथक् मानते हैं, पर मैं नहीं मानता। जब तक मेरे दिल में तसल्ली न हो जाय, मैं मान भी नहीं सकता।

मुनिराज तुम नहीं मानते तो सवाल करो।

राजा—जब मेरे दादा जीवित थे तो मुझ पर बहुत स्नेह रखते थे। मेरे आये बिना वह जीमते नहीं थे। मैं जब आ जाता तभी वे भोजन करते थे। वे नरक और स्वर्ग कुछ भी नहीं जानते

थे और न मानते थे। पाप ही पाप में उनकी जिंदगी व्यतीत हुई। आपके मत के अनुसार वे नरक में गये होंगे। अब वह आकर मुझे क्यों नहीं चेतावनी देते कि-तू पाप मत कर, अन्यथा मेरी तरह नरक में कष्ट भुगतने पड़ेंगे। यदि जीव भिन्न होता और वे नरक में गये होते तो अवश्य कहते। मगर उन्होंने कभी आकर कहा नहीं, इस कारण मैं मानता हूं कि न जीव है न नरक है और न परलोक ही है। अगर आज भी दादा आकर कह दें कि पाप के प्रभाव से मैं नरक में पड़ा हूँ। बेटा, तू कदापि पाप मत करना, तो मैं आपकी मान्यता सत्य समझूंगा, अन्यथा नहीं। मगर वे कब आने वाले हैं। कितने ही वर्ष बीत गये। वास्तव में देह के साथ ही उनका अन्त आ गया है। अब उनका कोई अस्तित्व नहीं है।

मुनिराज बोले-राजन् ! सूर्यकान्ता तुम्हारी अतिशय प्रिय रानी है। तुम्हें रानी के प्रति इतना घनिष्ट प्रेम है कि तुमने अपने पुत्र का नाम भी सूर्यकान्त रक्खा है।

अगर उस रानी के साथ कोई बदमाश दुराचार करे-बलात्कार करे तो तुम उसे क्या दंड दोगे ?

राजा-महाराज, मैं उस आततायी का सिर धड़ से अलग कर दूंगा।

मुनिराज-वह बहुत मिन्नत करेगा कि मुझे एक दिन या एक घंटे की मोहलत दीजिए ताकि मैं अपने प्रिय कुटुम्बीजनों से बातें कर आऊँ। क्या उसे मोहलत दोगे ?

राजा-अजी, उसके मुँह से हर्फ भी नहीं निकलने दूंगा। मैं उसे पाँच मिनिट की भी छुट्टी नहीं दूंगा।

मुनिराज—राजन् ! उस आदमी ने एक ही गलती की है। अठारह पापों में से एक ही पाप किया है। फिर भी तुम उसे पाँच मिनिट की छुट्टी नहीं दे सकते। तो फिर इसी रोशनी में अपने दादा का विचार करो। उन्होंने तो एक नहीं हजारों गलतियाँ की हैं और सभी पापों का सेवन किया है। ऐसी स्थिति में यमदूत-नरक के पालक-उन्हें कैसे छोड़ सकते हैं ? जब वे छोड़ ही नहीं सकते तो दादा तुम्हें चेतावनी देने कैसे आ सकते हैं ? अतएव राजन् ! विपरीत विचार त्याग कर मेरी बात मान ले कि जीव अलग है और काया अलग है।

राजा—इसमें सन्देह नहीं कि आपने अच्छा ज्ञानाभ्यास किया है, फिर भी आपका कथन तर्क की तराजू पर ठीक नहीं तुल रहा है।

यह कहकर उसने अपनी दादी आदि के उदाहरण दिये। कुल मिलाकर उसने दस प्रश्न किये और मुनिराज ने सभी प्रश्नों के प्रभावशाली उत्तर दिये। मुनिराज के उत्तरों से राजा को निरुत्तर होना पड़ा। अन्त में उसके चित्त का समाधान हो गया और उसने जीव की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करली।

शक्ति तो शक्ति ही है। उसके उपयोग का तरीका मनुष्य के विचारों पर निर्भर है। अगर विचार पवित्र और धर्मानुकूल हैं तो शक्ति धर्म कार्य में प्रयुक्त होती है। अगर विचार मलीन और अधर्मानुगामी हैं तो वही शक्ति पाप में लगती है। विचार शुद्धि से पूर्व जो शक्ति अधर्म में प्रयुक्त होती थी, वही बाद में धर्म में व्यय होने लगती है। वह यदि प्रचण्ड थी तो धर्म कार्य में भी उतनी ही प्रचंडता से लगती है।

राजा प्रदेशी में प्रचण्ड शक्ति थी परन्तु वह अभी तक पाप में प्रयुक्त हो रही थी, मगर केशी स्वामी ने जब उसके विचारों

को सन्मार्ग की ओर मोड़ दिया तो वही प्रचण्ड शक्ति धर्म में प्रयुक्त होने लगी। उसने कहा-गुरुदेव, मैं आपका श्रावक बनता हूँ। अभी तक मैं नास्तिक था और शिकारी था। कभी खैरात नहीं करता था। मगर दुनिया को क्या पता चलेगा कि राजा अब जैन बन गया है और श्रावक बन गया है। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अपने राज्य की आमदनी का चौथाई हिस्सा दान में व्यय करूँगा।

बोलो भाइयो ! धर्मी और पापी की पहचान क्या है ? धर्मी पुरुष के दिल में दया होती है और दया आने पर वह दुखी के दुःख को मिटा देता है। पापी के दिल में दया नहीं होती। वह तो मौका आने पर यही कहेगा कि सालों को लूट कर लो।

पापी घर से बाहर निकलेगा तो किसी दुखी को देख कर राम-राम कर लेगा, लेकिन कोरा राम-राम करने से क्या हासिल होगा ? जब तक उसका दुःख दूर न किया जाय तब तक क्या फायदा है ?

गरजे है पर बरसे ही नहीं, ये सब फरेब है मेवों में।
कहते हैं पर करते नहीं, ये सब बात है मर्दों में ॥

जो गरजते हैं पर बरसते नहीं, उनके गरजने से क्या लाभ हुआ दुनिया को ? अव्वल तो इस श्रेणी के लोग कहते नहीं और कोई कहते हैं तो करते नहीं। लेकिन भाइयो ! बिना कुछ किये कैसे काम चलेगा ? थोथी बातों से काम नहीं चल सकता। पेट भरना है तो रोटी बनानी होगी, पैसा खर्च करना होगा। रोटी बन जाने पर दांतों से चबानी पड़ेगी तब कहीं जाकर पेट भरेगा।

मामा चला गया। भागिनेय को भूख सता रही थी। अतएव उसने ककड़ी के भीतर का गूदा और बीज तो खा लिये और ऊपर का खोखा ज्यों का त्यों रहने दिया।

थोड़ी देर में मामा ने लौट कर ककड़ी देखी तो अन्दर पोलमपोल थी! कहा-भाणेज, क्या बात है? ककड़ी के भीतर का गूदा और बीज कहाँ गये?

भागिनेय ने गंभीर बन कर कहा-मामाजी, आप इतने सयाने होकर भी नहीं समझते। मैं अभी बालक होने पर भी जानता हूँ कि ककड़ी में बीज ही नहीं होते।

मामा-अरे मूर्ख, बीज न हों तो ककड़ी पैदा ही कैसे होगी?

मामा ने बहुत चाहा कि लड़का किसी तरह ककड़ी में बीज होना मान जाय, पर लड़का बड़ा कांइयां था। वह यह बात कबूल ही नहीं करता था।

कहो भाई, बुरा काम किसने सिखलाया? कर्मों के उदय से जीव अपने आप ही सीख जाता है।

दोनों आगे चले तो किसी गांव में पहुँचे। वहाँ पहुँच कर एक जगह चोरी की। फिर एक स्थान पर जाकर मामा ने कहा-बोल भाणेज, ककड़ी में बीज होते हैं या नहीं? भाणेज बोला-मैं तो झूठ बोलना सीखा नहीं मामा साहब, ककड़ी में बीज नहीं होते।

यह सुन कर मामाने उसे एक खंभे से बाँध दिया और आप कहीं दूसरी जगह चला गया। भाणेज ने इसकी कोई परवाह नहीं की।

सवेरा होने पर चोरी होने का हल्ला मच गया। सिपाही चोर की तलाश करने लगे। इस लड़के के पास भी पहुँचे और उससे पूछने लगे-क्या तूने चोरी की है?

लड़के ने कहा-जिसने मुझे बाँधा है, उसीने चोरी की है।

सिपाही-तुझे किसने बाँधा है?

लड़का-जिसने चोरी की है।

सिपाही-मगर वह है कौन?

लड़का-हुजूर, कह तो दिया है कि जिसने मुझे बाँधा है, उसी ने चोरी की है।

बहुत कुछ पूछताछ करने पर भी लड़के ने इससे अधिक कुछ नहीं बतलाया।

कहो भाई, मच्छी के बच्चे को तैरना कौन सिखलाता है? खराब बातें जल्दी आ जाती हैं पर धर्म की बातें नहीं आतीं। कोई व्यक्ति चार महीने से धर्म में दृढ़ है, लेकिन कोई आकर उससे कहता है-मुँह बाँध कर बैठ जाने में क्या रक्खा है! क्या फायदा है सामायिक करने में? अरे भाई, यह सब ढोंग है, पाखण्ड है!

यह सुनते ही उसका दिमाग बदल जाता है और चार महीने का किया-कराया मिट्टी में मिल जाता है। बस उल्लू की लकड़ी घुमाने वाला चाहिए।

तो जब उस लड़के से पूछताछ की जा रही थी, तब गांव के लोग भी इकट्ठे हो गये थे। प्रश्न और उत्तर चल ही रहे थे कि इतने में लडके का मामा आ पहुंचा। मगर इस समय वह दूसरे ही वेषभूषा में था। बहुमूल्य वस्त्र पहने थे। कलाई पर सुन्दर घड़ी सुशोभित हो रही थी। हाथ में पतली-सी बेंत थी। सवारी के लिए करीब पाँच सौ का घोड़ा था। उसने वहाँ पहुंच कर पूछा-क्या बात है? यहाँ क्या हो रहा है?

लोगों ने समझा—यह कोई बड़े और प्रभावशाली पुरुष हैं। एक ने उन्हें सारा क़िस्सा कहा और बतलाया कि यह लड़का बड़ा विचित्र जान पड़ता है। कहता है जिसने चोरी की उसी ने बांधा है और जिसने बांधा है उसी ने चोरी की है। इससे आगे यह कुछ भी नहीं बतलाता कि इसे बाँधने और चोरी करने वाला कौन है?

यह क़िस्सा सुनकर आगन्तुक ने कहा-यह बदमाश छोकरा है। मैं इसे जानता हूँ, दस नंबरी है। मैं इसे अलग ले जाकर पूछ लेता हूँ। मेरे सिवाय और किसी के कब्जे में यह आने वाला नहीं।

लोगों ने सहर्ष कहा—हाँ हाँ, ले जाइए साहब!

वह लड़के को एक गली में ले जाकर बोला—अब तो बतला कि ककड़ी में बीज होते हैं या नहीं?

लड़का बोला-सुनो मामा साहब! मैं झूठ कभी नहीं बोलूँगा। ककड़ी में बीज होते हों तो मुझे हाँ कहने में क्या आपत्ति है? पर होते ही नहीं तो कैसे हाँ कह दूं? कम से कम मैं तो नहीं जानता।

मामा ने कहा—देख, तू अभी गिरफ्तार हो जायगा।

मगर लड़का अपनी बात पर अड़ा रहा। तब मामा ने उसे घोड़े पर बिठलाया और एड़ लगाते ही घोड़ा छूमन्तर हो गया। वह लोग देखते ही रह गये।

मामा-भागीनेय घर पहुँचे। भाई ने अपनी बहिन से कहा—बहिन, भाणेज होशियार हो गया है।

बहिन दो ही दिनों में?

तब उसने बहिन से पूछा तुमने कभी ककड़ी खाई है?

बहिन-हाँ, खाई है।

भाई-तो उसमें बीज होते हैं या नहीं ?

बहिन-बीज न हों तो ककड़ी उगे ही कैसे ?

भाई-अब भाणेज से यही बात पूछो।

लड़के से पूछा तो वह कहने लगा-माँ, तू झूठ बोलती है। मेरे मुख से कभी झूठ निकल ही नहीं सकता। ककड़ी में कभी बीज हो नहीं सकते।

तब भाई ने बहिन से कहा-यह तो मुझसे भी अधिक होशियार हो गया है। मौका आने पर मुझे भी ठग सकता है।

तो अभिप्राय यह है कि बुरी बातें सीखते देर नहीं लगती पर अच्छी बातें बड़ी कठिनाई से दिमाग में आती हैं।

कितने व्याख्यान सुनते हो, सुनाने वाले कितने पचते हैं, परन्तु धर्म की बात चित्त में नहीं जमती। किन्तु पाप करने की सीख कौन देता है ? कोई नहीं सिखाता, फिर भी जैसे वह स्वयंसिद्ध हो रहा है !

कितने व्याख्यान सुनते हो, सुनाने वाले कितने पचते हैं परन्तु धर्म की बात चित्त में नहीं जमती। किन्तु पाप करने की सीख कौन देता है ? कोई नहीं सिखाता, फिर भी जैसे वह स्वयं सिद्ध हो रहा है !

विरले भाग्यवान जीव ऐसे भी होते हैं जो जल्दी समझ जाते हैं। प्रदेशी राजा इसका उदाहरण है। वह बड़ा राजा था पर नास्तिक था। नास्तिक होने के साथ घोर पापी और अन्यायी भी था। वह हत्या करना साधारण मनोरंजन समझता था। सके हाथ खून से रंगे रहते थे। बड़ा क्रूर, निर्दय रौद्र और चंड

बातां से नहीं नीपजे रे मोटा लागे दाम ।
लोही जब ही नीकले रे जब चीरा जाए चाम ॥

राजा प्रदेशी ने बातों-बातों में ही गुरु की शिक्षा स्वीकार नहीं की, वरन् उनकी शिक्षा के अनुसार काम भी करके दिखलाया। उसे गुरु का हितकारी उपदेश लग गया। परन्तु कई ऐसे भी होते हैं कि उन्हें कितना ही उपदेश दिया जाय, उनके अन्तःकरण तक पहुँचता ही नहीं है। एक कान से प्रवेश करके दूसरे कान से निकल जाता है। किन्तु पुण्यवान् जीव इस भव में भी यश उपार्जन करता है और मरने के बाद भी अच्छी ही गति में जाता है।

भाइयो! आप भी अपने जीवन को उच्च और पवित्र बनाइए बातों से नहीं, अपने धर्मकृत्यों से। निरन्तर शुभ और प्रशस्त विचार ही रखिए। अपनी लेश्या को कभी दूषित न होने दीजिए। विचारों का वैभव बढ़ाइए। ऐसा करने से इहलोक भी आनन्दमय होगा और परलोक में भी आनन्द ही आनन्द होगा।

ब्यावर
१७-११-४७

८

पुरुषार्थ की मर्यादा



स्तुतिः—

गम्भीरताररवपूरितदिग्विभाग—
स्त्रैलोक्यलोकशुभसंगमभूतिदक्षः ।
सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः सन्,
खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

भगवान् ऋषभदेवजी के समवसरण की रचना और भगवान् जहाँ पधारते थे वहाँ की रचना बड़ी अद्भुत थी। जिस ग्राम, नगर, पुर, पाटन आदि में भगवान् का पदार्पण होता था, वहाँ के लोगों को कैसे खबर पड़ती कि भगवान् पधारे हैं ? लोग

कैसे जानते कि सद्धर्म के राजा पधार गये हैं ? विनीता जैसी विशाल नगरी में, जो बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी थी, सहसा पता चलना कठिन था। इस कारण देवगण प्रभु के पदार्पण की सूचना आकाश में दुंदुभि बजाकर दिया करते थे।

देवदुंदुभि की ध्वनि बड़ी गंभीर होती थी। उसके मनोहर शब्द से दशों दिशाएँ व्याप्त हो जाती थीं। वह तीनों लोकों के जीवों को भगवान् त्रिलोकीनाथ के शुभ समागम की सूचना देती थी। देवों द्वारा बजाई जाने वाली वह दुंदुभि मानों महाप्रभु की धर्मविजय की घोषणा करती थी और ध्वनि के बहाने भगवान् के यश का प्रसार करती थी।

बम्बई जैसे शहर में कोई मुनिराज पहुँचे और विहार कर गये तो क्या पता चले ? पहले देवदुंदुभि के द्वारा तीर्थंकर भगवान् का आगमन मालूम हो जाता था। आज इश्तिहारों के द्वारा खबर दी जाती है कि अमुक पण्डितजी या बड़े नेता पधारे हैं तो उनका प्रवचन सुनने को आइए। कहीं-कहीं श्रीसंघ के द्वारा घर-घर में जाकर सेवग ऐलान करता है कि अमुक महाराज पधारे हैं तो व्याख्यान सुनने को पधारना।

हाँ, तो कहीं ऐसा न हो कि भगवान् का शुभागमन हो और वे वापिस भी पधार जाएँ और लोगों को पता ही न चले ! उनके मन में पश्चात्ताप ही रह जाय ! इस कारण सबको सूचना देने के उद्देश्य से देवता आकाश में दुंदुभि बजाते हैं।

भाइयो ! क्या पुण्यवानी थी उन त्रिलोकनाथ भगवान् तीर्थंकर देव को ! कैसा अनुपम और असाधारण तेज था उन देवाधिदेव का ! उन प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

आज साधु-संत आपको जो वाणी सुनाते हैं, वह उन्हीं भगवान् की वाणी है। भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर स्वामी तक की वाणी एक ही है। सभी तीर्थंकर सर्वज्ञ--सर्वदर्शी हुए हैं, उन्होंने तत्त्व के वास्तविक स्वरूप को जाना था और अनन्त करुणा से प्रेरित होकर जगत् -जीवों के कल्याण के लिए कथन किया था। अतएव उनकी वाणी में विभिन्नता होने का कोई कारण नहीं है। सत्य नाना रूप नहीं होता, एक रूप ही होता है। अतएव मोक्षमार्ग का निरूपण करने वाली वाणी में कोई अन्तर नहीं है।

ऐसी अलौकिक महिमा से मंडित भगवान् ऋषभदेव हैं। उन्हीं को हमारा वार--वार नमस्कार हो।

कल बतलाया गया था कि शरीर त्यागते समय आत्मा पाँच जगह से निकलता है। यदि पैरों के भाग में से निकले तो वह नरक में जाता है। जो जीव मायाचारी होता है और छलकपट किया करता है, वह कमर तक के हिस्से से निकलता है और उसे तिर्यंचगति मिलती है। जिसके स्वभाव में सरलता होती है, जो दूसरों के दुख को देख कर दयाद्रवित हो जाता है और नम्र होता है, वह कमर और गर्दन के बीच के भाग से निकलता है और उसे मनुष्यगति की प्राप्ति होती है। जो साधु या श्रावक के व्रतों का पालन करता है, धर्मध्यान करता है और शीलवान् होता है, वह जीव सिर से निकलता है और देवलोक में जाता है।

इस प्रकार सब जीवों को कोई एक ही गति निश्चित नहीं है। सब जीव अपनी--अपनी करणी के अनुसार गति और योनि पाते हैं। सिनेमा देखने के लिए जाने वाला मनुष्य जितने ज्यादा पैसे खर्च करता है, उसे उतनी ही ऊँची कुर्सी मिलती है, बैठने वाले तो वही के वही मनुष्य हैं। इसी प्रकार नरक-स्वर्ग में तथा नर-

तिर्यंच गति में जाने वाले जीव तो वही के वही हैं, परन्तु करणी के पीछे ठिकाना मिलता है। जिसकी जैसी करनी होगी, उसे वैसा ही ठिकाना मिलता है। सीताजी ने ऐसी करनी की कि उन्हें बारहवाँ देवलोक प्राप्त हुआ और रामचन्द्रजी अपनी करनी के फल-स्वरूप निरंजन निराकार पद प्राप्त करने में समर्थ हो गये। लक्ष्मणजी को अलग ही प्रकार की योनि प्राप्त हुई। उन्हें और सीताजी को फिर जन्म लेना पड़ेगा।

जीव का भविष्य उसकी करनी पर अवलम्बित है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रत्येक मनुष्य अपने भविष्य को अपने-आप बनाता या बिगाड़ता है। आप चाहें तो अपने आगामी जीवन को सुख-शान्तिमय बना सकते हैं और चाहें तो दुखमय भी बना सकते हैं। आपका भविष्य आपके ही हाथ में है, किसी दूसरे के हाथ में नहीं। यह समझना भूल है कि हम तुच्छ हैं, ना-चीज हैं, दूसरे की हाथ की कठपुतली हैं, पराये इशारे पर नाचने वाले हैं, जो भगवान् चाहेगा वही होगा, हमारे किये क्या हो सकता है। यह दीनता और हीनता की भावना है। अपने आपको अपनी ही दृष्टि में गिराने की जघन्य विचारधारा है।

वास्तव में जीव अपनी इच्छा के अनुसार ही शुभ या अशुभ कर्म करके सुख दुख का भागी होता है। उसके कर्म ही उसे नरक-स्वर्ग में ले जाते हैं। नाना योनियों में भेजने वाला कोई दूसरा नहीं है।

हाँ, अगर आप पाप करके, अनीति और अधर्म करके स्वर्ग-मोक्ष प्राप्त करना चाहें तो ऐसा नहीं हो सकता। ऐसी स्व-तंत्रता आपको प्राप्त नहीं है। आप जैसी क्रिया करेंगे वैसा ही फल पाएँगे। अतएव अगर आपको नरक गति की यातनाओं से

बचना है और तिर्यंच गति के कष्टों से भी छुटकारा पाना है तो ऐसी करनी करो जिससे मनुष्य और देवगति प्राप्त कर सको। इस समय आपको पूरी स्वाधीनता है करनी करने की। मगर इस करनी का फल भोगते समय आपकी इच्छा काम नहीं आ सकती। आप मिर्च खाएँ या न खाएँ, आपकी मर्जी, पर खा लेने के बाद जीभ का चरपरा होना आपकी मर्जी पर निर्भर नहीं है। मिर्च खाओगे तो जीभ चरपरी होगी ही। शक्कर या मिठाई खाने वाले का मुँह मीठा होगा। विष खाने का परिणाम मरण है। तात्पर्य यह है कि आज आप जो क्रिया करते हैं, उसके फल से बचना चाहें तो नहीं बच सकते।

आज लोग विषय, कषाय और प्रमाद में रचे-पचे रहते हैं। धर्म की क्रिया करने की परवाह नहीं करते। कहते हैं—अजी, सामायिक करने की जल्दी क्या है। फिर कर लेंगे ! कोई कहते हैं-क्या पता है स्वर्ग का और क्या ठिकाना है मोक्ष का ! जो सुख आज प्राप्त है उसे त्याग देने में कौन-सी बुद्धिमत्ता है ! मगर जब मौका आएगा तो छठी का दूध याद आ जायगा। इस प्रकार की भ्रमपूर्ण प्रमादजनित विचारधारा आपको ले डूबेगी ! जब नरक की विडम्बनाएँ भोगने का अवसर आएगा तो सोचोगे कि-हाय, मैंने कितना सुन्दर अवसर खो दिया। स्वर्ग के सुख पा सकता था परन्तु करनी नहीं की उसके बदले यह भयानक कष्ट भोगने का अवसर आया !

भाइयो ! इस समय आपको अपूर्व अवसर प्राप्त है। इतना अच्छा अवसर प्राप्त है कि कोई-कोई विरला ही जीव इसे पा सकता है। आपमें व्यक्त चेतना है, विचार करने की शक्ति है, करनी करने की सब योग्यताएँ विद्यमान हैं, इन्द्रियाँ कार्यक्षम हैं, सदुपदेश श्रवण करने का अवसर मिल रहा है और दूसरी सभी

अनुकूलताएँ प्राप्त हैं। इस अवसर से लाभ उठाकर अगर धर्म-क्रिया कर लो, अपने आचार--विचार को पवित्र बना लो और कषायों को कम करके समभाव जगा लो तो आपका कल्याण हो जाय ! आगे आनन्द में बैठे-बैठे याद करोगे कि पहले आलस्य नहीं किया तो आज मजे में हैं। और यदि यह समय खो दिया तो निश्चित ही बाद में बुरी तरह पछताना पड़ेगा। फिर सोचेंगे--धर्मध्यान किया होता तो आज यह वक्त न देखना पड़ता। यह भी सोचोगे कि कहने वालों ने तो कहा था, पर मैंने दुर्बुद्धि के कारण कहना नहीं माना।

अरे यहाँ तो चंद दिनों का मेला है। यह स्थिति सदा रहने वाली नहीं है। यह तुम स्वयं जानते हो और भलीभाँति जानते हो। उलटा मुँह करो चाहे सुलटा, मरना तो पड़ेगा ही।

अच्छा रास्ता अच्छा ही होता है। धर्म का मार्ग एकान्त प्रशस्त और मंगलमय है। वह इस लोक के लिए भी हितकर है और परलोक के लिए भी आनन्दप्रद है। आप अधर्म का आचरण न करेंगे तो आपके पवित्र आचरण को देख कर लोग आपकी प्रशंसा करेंगे। यही नहीं, आपको भी आन्तरिक संतोष की अनुभूति होगी। आपके चित्त में तृष्णा और लालच न होगा तो निराकुलता का अभूतपूर्व आनन्द आपको तत्काल अनुभव में आने लगेगा।

जिस धर्म का आचरण करने पर मैं बार--बार जोर दे रहा हूँ और आपको पूरी शक्ति के साथ प्रेरणा कर रहा हूँ, वह धर्म क्या है ?

आम के पेड़ की शाखाएँ जब आढ़ी--टेढ़ी जाने लगती हैं तो माली उनकी कलम कर देता है, इसलिए कि वृक्ष सुन्दर बन जाय। इसी प्रकार अनघड़ जीवन को ऊँचा बनाने के लिए जो कलम

की जाती है, वही धर्म है। धर्म जीवन का सौन्दर्य है, जीवन का शृंगार है और वह शृंगार बाहरी नहीं, भीतरी है। धर्म के द्वारा जीवन का अनघड़पन दूर होता है। जीवन कृतकृत्य बनता है और खिल उठता है। जीवन को पाने की सार्थकता धर्म में ही निहित है।

कई आदमी ऐसे होते हैं जिनके विषय में दूसरे लोग कहते हैं— अजी, वह भी कोई आदमी है! हैवान है पूरा। उसे क्या सऊर है। वह तो नालायक है।' यह सब किसका फल है? अधर्म का आगे जो फल होगा सो तो होगा ही, मगर अभी तो यहीं फल मिलने लगता है।

इसके विपरीत जो सदाचारी हैं और धर्मानुमोदित व्यवहार करते हैं, उनकी यहीं प्रशंसा होती है और जिनकी प्रशंसा होती है उनका जीवन ही वास्तव में जीवन है। यश ही असली जीवन है। यह काया तो कायम नहीं रहती परन्तु यशःशरीर चिरस्थायी रहता है। हजारों, लाखों और करोड़ों वर्ष पहले जो महापुरुष इस धरतीतल पर अवतीर्ण हुए थे, आज भी हम श्रद्धा और भक्ति के साथ उनके गुणों का गान करते हैं और प्रातःकाल मंगल के निमित्त उनका नाम लेते हैं। अन्यथा सुबह-सुबह किसी का नाम लेने पर लोग कहते हैं-किस नालायक का नाम ले लिया? दुर्जन का नाम हमारे सामने क्यों लिया?

कहो भाई, कौन किसे देता है और किससे क्या लेता है, फिर भी भले आदमी का नाम हरेक के हृदय में घर कर लेता है। तो यह यश और अपयश भी अपनी-अपनी करणी के अनुसार होता है।

आज भी जिसकी यहाँ तारीफ है, उसकी वहाँ भी तारीफ है। जिसकी यहाँ शोभा है उसकी वहाँ शोभा है।

मनुष्य को समझना चाहिए कि वह अपने आपको जैसा भी बनाना चाहे वैसा बना सकता है। अपने आपको गिराने का और चढ़ाने का उसे पूरा अधिकार है। जो ज्ञानी महापुरुष आध्यात्मिक विकास की चरम सीमा पर पहुँचे हैं और तीनों लोकों के पूज्य बने हैं, वह उनका निज का पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ करने पर मनुष्य क्या नहीं बन सकता ? जो मनुष्य विपरीत दिशा में पुरुषार्थ करते हैं, वे चरम सीमा के अधःपतन को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार पुरुषार्थ बड़ी चीज है; फिर भी उसकी कुछ सीमाएँ हैं। कुछ बातें ऐसी हैं, जिनके विषय में मनुष्य का तो क्या देवता का पुरुषार्थ भी सफल नहीं हो सकता। श्रीमत् ठाणांग सूत्र में कहा है:—

छहिं ठाणेहिं सव्वजीवाणं णत्थि इड्ढी ति वा जाव परक्कमेति वा, तंजहा-जीवं वा अजीवं करणयाए……

भगवान् तीर्थंकर देव का फर्मान है कि-हे भव्य जीवो ! दुनिया में छह बातें ऐसी हैं, जिन्हें कोई मेट नहीं सकता। जगत् में बहुत-से जीव हैं जिन्हें धन का गर्व है, राज्य का गर्व है या जवानी का गर्व है, लेकिन एक भी गर्व चलने वाला नहीं है। कोई भी पुरुषार्थ, पराक्रम या युक्ति चलने वाली नहीं है। न चली थी, न चलती है और न चलेगी। वह बातें कौन-सी हैं जो अमिट हैं और पुरुषार्थ की सीमा से बाहर हैं ?

इस अखिल भूमण्डल में ऐसा कोई शक्तिशाली नहीं है, बलवान् नहीं है जो जीव को अजीव बना दे।

संसार के समस्त इन्द्र भी मिल कर जीव को अजीव बनाने का प्रयत्न करें तो भी सफल नहीं हो सकते। ऐसा कोई शस्त्र नहीं है और हो भी नहीं सकता जो जीव का नाश कर सके। दुनिया में ऐसी कोई आग नहीं है जो जीव को भस्म करने में समर्थ हो।

जोधपुर में हमारा चौमासा था। उस समय पूज्य मुन्नालालजी महाराज भी मौजूद थे। एक गांव के एक सज्जन ने आकर प्रश्न किया-जीव खाये, खिलाये और खाने को भला जाने तो पुण्य होता है या पाप ?

क्या अद्भुत प्रश्न है! मैंने प्रश्नकर्त्ता का भीतरी आशय तो समझ लिया, मगर उसके शब्दों को ही पकड़ा। मैंने कहा-तुम्हारा प्रश्न ही झूठा है और जिस गुरु ने यह प्रश्न बतलाया वह भी झूठा है।

वह जरा असमंजस में पड़ गया और फिर बोलाः-महाराज प्रश्न झूठा कैसे है ?

मैंने कहा-तुम कहते हो जीव खाए परन्तु तीन लोक में ऐसा कोई जीव नहीं जो जीव को खा सके। गीता में श्रीकृष्णजी ने कहा है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥

अर्थात्—जीव को न शस्त्र छेद सकते हैं, न पावक जला सकता है न पानी भिगो सकता है और न वायु सोख सकती है।

जीव अमूर्त्तिक, अनाकार, चैतन्यमय सत्ता है। वह पुद्गल के द्वारा कैसे काटा-पीटा जा सकता है ? पुद्गल में जो क्रियाएँ होती हैं, वह जीव में नहीं हो सकतीं। जीव इन्द्रियागोचर वस्तु है। अतएव उसे न तो कोई खा सकता है और न खिला सकता है। इस अभिप्राय से मैंने कहा है कि तुम्हारा प्रश्न झूठा है।

यह उत्तर सुन कर वह चक्कर में पड़ गया। थोड़ी देर तक विचार में डूबा रहा।

तो अभिप्राय यह है कि रूप, रस, गंध और स्पर्श से रहित होने के कारण जीव को अजीव बनाना किसी के लिए शक्य नहीं है। मनुष्य हो या देव, वह एक द्रव्य की किसी पर्याय को पलट सकता है; परन्तु एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य के रूप में बदलना असंभव है। किसी भी द्रव्य का मूल स्वभाव अपरिवर्त्तनीय है। वह त्रिकालस्थायी होता है।

इसी हेतु से भगवान् महावीर फ़र्माते हैं कि दुनिया में अनन्त जीव हैं, उनमें से किसी एक को भी कोई पुरुषार्थ, पराक्रम या कोई शस्त्र अजीव नहीं बना सकता। किसी में ऐसी ताक़त नहीं है, किसी की बुद्धि यहाँ काम नहीं दे सकती।

जीव के ऊपर ही सारा दारोमदार है। यह सामायिक और त्याग प्रत्याख्यान कौन करता है? अभिमान कौन करता है? अहंकार कहाँ से उद्भूत होता है? मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, या शूद्र हूँ, यह सब कहने वाला कौन है? यह प्रत्यक्ष दीखने वाली जीभ ही ऐसा बोलती हो सो बात नहीं है। जीभ तो मुर्दे में भी रहती है, पर उसमें ऐसा बोलने की शक्ति नहीं है। अतएव सहज ही अनुमान किया सकता है कि बोलने वाला जिह्वा से भिन्न ही कोई है। जीभ उसका औजार है, साधन है। इस औजार को काम में लाने वाला कोई और है। वही जीव है। जिसके मौजूद रहने यह काया का पींजारा चलता--फिरता, भागता--दौड़ता, खाता--पीता उठता--बैठता है और नाना प्रकार की क्रियाएँ करता है और जिसके न रहने पर निश्चेष्ट हो जाता है, वह शरीर का संचालक शरीर से भिन्न है।

इस जीव के विषय में ही जिसे अज्ञान है, वह अपने आपको ही नहीं जानता! जिसे आत्मा के अस्तित्व में सन्देह है,

वह अपनी ही सत्ता में सन्देह कर रहा है ! कितने आश्चर्य की बात है ! अरे भाई, यदि तुझे आत्मा के विषय में सन्देह है तो तेरा सन्देह ही आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण है। आत्मा न होता तो आत्मा के विषय में सन्देह कौन करता ? सन्देह भी एक प्रकार का ज्ञान है और वह जड़ पदार्थों में नहीं पाया जाता। इस कारण सन्देह भी जीव का साधक है।

तुम बाह्य पदार्थों को समझने का प्रयत्न करते हो तो अन्दर वाले को भी समझने की कोशिश करो। दूसरो से सलाह लेते हो तो भीतर वाले की क्यों उपेक्षा करते हो ? उससे भी तो कभी-कभी सलाह ले लिया करो।

तो आपके शरीर के भीतर जो चैतन्यदेव विराजमान है, उसको अचेतन बनाने की शक्ति किसी में नहीं है, क्यों कि आत्मा नित्य द्रव्य है। कहा भी है—

एगो में सासओ अप्पा, नाणदंसणलक्खणो।
सेसा बाहिरिया भावा, पोग्गलाणं तु लक्खणं ॥

आत्मा एकाकी है और शाश्वत है। उसके प्रधान लक्षण दो हैं—ज्ञान और दर्शन। ज्ञान और आत्मा का संबंध कैसा है ? जैसे शक्कर और मिठास का संबंध है या घी और चिकनाई का संबंध है, उसी प्रकार आत्मा और ज्ञान का अभेद संबंध है। वस्तुतः आत्मा और ज्ञान एक ही है फिर भी उनमें गुण-गुणी का संबंध होने से किसी अपेक्षा भेद भी है।

भगवान् महावीर के सब से बड़े शिष्य इन्द्रभूति गौतम थे। भगवान् का शिष्य बनने से पहले वह वैदिक धर्म के अनुयायी बड़े विद्वान् थे। चारों वेद उनकी जीभ पर नाचते थे। सभी शास्त्रों

के प्रकाण्ड पंडित थे। वह एक जगह यज्ञ कर रहे थे। भगवान् महावीर भी संयोगवश वहाँ पहुँच गये। भगवान् के समवसरण में सम्मिलत होने के लिए देव आये तो दूर से देख कर उन्होंने समझा-मेरे यज्ञ के प्रभाव से स्वर्ग से देवगण आ रहे हैं! मगर जब वे आगे समवसरण की तरफ बढ़ गये तो उन्हें भगवान् महावीर के प्रति तीव्र मत्सरभाव उत्पन्न हुआ। सोचा-महावीर इतना बड़ा छलिया है! मनुष्यों को तो छलता ही था अब देवों को भी झांसा देने लगा। देखूँ उसकी विद्वत्ता को! अभी जाकर देवों के समक्ष ही उसे वाद में पराजित करता हूं। मालूम होता है-महावीर को पता नहीं कि मैं यहाँ पर मौजूद हूँ और यज्ञ करवा रहा हूँ। पता होता तो क्या उन्हें यहाँ आने की हिम्मत होती? नहीं, वह साहस ही न करते।

इन्द्रभूति ने सोचा-चलूँ महावीर के पास और दो-चार प्रश्न करके और निरुत्तर करके यहां से रवाना कर दूँ। क्यों यहाँ वह व्यर्थ समय नष्ट कर रहे हैं!

इस अभिमान का क्या पूछना है! इन्द्रभूति अहंकार के पुतले जान पड़ते हैं। अपूर्णता में अभिमान आ ही जाता है, चाहे वह कम हो या ज्यादा।

एक आदमी ने किसी दूसरे से कहा-चलो महाराज आये हैं।

वह—मैं नहीं चला करता।

प्रथम—अजी, फलां महाराज पधारे हैं। व्याख्यान तो सुन लो।

वह-प्रथम तो मैं कहीं जाता नहीं और जाता हूँ तो १०८ प्रश्न पूछता हूँ।

प्रथम—अच्छा, पीछे प्रश्न भी पूछ लेना। पहले व्याख्यान तो सुन लो।

वह व्याख्यान सुनने चला आया। व्याख्यान सुनने के बाद खड़े होकर उसने कहा-आधे प्रश्न तो हल होगये। आधे शेष रह गये हैं सो कल सुनेंगे।

बाद में तो वह भाई ऐसा धर्म प्रेमी बना कि उसने अपने रहने की आधी ज़मीन भी लोगों को धर्मध्यान करने के लिए दान कर दी।

तो जब तक ज्ञानवान् पुरुष की संगति न की जाय तब तक तत्वबोध कैसे हो सकता है ? अपने आपको कोई भले पण्डित-राज और बृहस्पति का अवतार समझता रहे, परन्तु पण्डिताई का असली पता तो किसी बड़े पण्डित के पास जाने से ही लगता है।

हाँ, तो इन्द्र भूति विजय का सेहरा बाँधने के लिए अपने पाँच सौ चेलों को साथ लेकर बड़े ठाठ के साथ भगवान् के पास पहुँचे। पहुँचते ही भगवान् ने कहा—इन्द्र भूति गौतम ! ठीक समय पर आये हो।

भगवान् को पहला चेला इन्द्रभूति को ही बनाना था। पूर्व जन्म के ही वह साथी थे। इस अभिप्राय से भगवान् ने उपर्युक्त शब्द कहे।

गौतमजी अपना नाम और गोत्र भगवान् के मुख से सुन कर प्रथम तो तनिक चकित हुए, परन्तु दूसरे ही क्षण सोचने लगे-

दिनकर को कहो कौन न जाने,
ज्यूं मुझ नाम पिछाने।

पर मुझ मन की शंका काढ़े,
तो सभी भाव ई जाने ॥
रे भविका गौतम गणधर वन्दो,
भव-भव दुःख निकन्दो ॥

सूर्य को कौन नहीं जानता ? इसी प्रकार आज आर्यावर्त्त में कौन ऐसा है जो मेरा नाम और गौत्र न जानता हो ? मैं विश्वविख्यात विद्वान हूँ। इतने मात्र से मैं इन्हें सर्वज्ञ नहीं मान सकता। हाँ, मेरे मस्तिष्क में एक सन्देह चक्कर काटता रहता है और मुझे परेशान किया करता है। अगर महावीर उसे बिना कहे जान लें और उसका समाधान कर दें तो मानूं कि यह सब कुछ जानते और सब कुछ देखते हैं।

भाइयो ! इन्द्रभूति को किस विषय में सन्देह था ? वह चारों वेदों के पाठी थे और अन्य शास्त्रों के भी ज्ञाता थे। बड़े बुद्धिमान और प्रतिभाशाली थे। ग्रहण एवं धारणा में कुशल थे। मगर वह यह निश्चय नहीं कर पाये थे कि आत्मा का अस्तित्व है अथवा नहीं ?

कितनी बड़ी पोल ! कितने ही लोग ऊपर से साधु सन्यासी बन जाते हैं और ऊपर से खूब तपश्चर्या करते हैं, दूसरों को उपदेश देते हैं, मगर यह जानते ही नहीं कि आत्मा है या नहीं। कई लोग कहते हैं—व्याख्यान तो अच्छा है परन्तु विश्वास नहीं जमता।

मगर भगवान् महावीर तो जानते थे कि इन्द्रभूति के चित्त में क्या तूफान चल रहा है। वह उनके अभिमानपूर्ण विचारों को भी जानते थे और उनके सन्देह को भी जानते थे। कहा है—

वीर प्रभु गौतम को समझावे,
यों आतमज्ञान बतावे ।टेर।।
द्रव्य से जीव अनन्त विश्व में,
लोकाकार रहावे,
काल से नित्य अखंड अविनाशी,
चेतना लक्षण पावे ।।

भगवान् ने गौतम के मन का सन्देह प्रगट कर दिया और यह भी बतला दिया कि वेद के किन परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले वाक्यों ने सन्देह उत्पन्न कर दिया है।

इन्द्रभूति इस बार अत्यन्त विस्मित हुए। उन्होंने अपने मन का सन्देह मन में ही छिपा रक्खा था। अब तक भी किसी के सामने प्रकट नहीं किया था। परन्तु महावीर स्वामी ने सहज भाव से उसे जानकर कह दिया।

अपने सन्देह को सुनकर गौतम का अभिमान गल गया। अहंकार ने श्रद्धा का रूप धारण कर लिया। श्रद्धा उत्पन्न होते ही जिज्ञासा का उदय हुआ। वह सोचने लगे-भगवान् यदि मेरे संशय को निवारण करदें तो मैं कितना अनुगृहीत होऊँ। वर्षों का शल्य निकल जाय और मैं शान्ति की सांस ले सकूँ।

गौतम यह सोच ही रहे थे कि भगवान ने फर्माया-गौतम! जिन वेदपदों के आधार पर तुम संदेह करते हो कि आत्मा का अस्तित्व है या नहीं, उन पदों का तुम्हें वास्तविक अर्थ विदित नहीं है।

यह कहने के पश्चात उन्होंने उन पदों का वास्तविक अर्थ समझाया। और फिर कहा-इन्द्रभूति! जीव है और वह एक नहीं

है। द्रव्य से जीव अनन्त हैं और वे सभी एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं। एक-एक शरीर में एक-एक जीव विद्यमान है।

कई लोगों का खयाल है कि एक ही आत्मा समस्त शरीरों में व्याप्त है। शरीर के भेद से उसमें भेद मालूम होता है, पर वास्तव में भेद है नहीं। उनका यह कहना युक्ति संगत नहीं है, क्यों कि संसार की समस्त आत्माओं में एकरूपता प्रतीत नहीं होती। सब की समझ अलग-अलग है। सब के आचार-विचार में अन्तर है। कोई सुख का अनुभव करता है तो उसी समय कोई दुःख के मारे परेशान होता है। एक जन्मता तो एक मरता है! यह सब बातें इस बात की सूचक हैं कि प्रत्येक शरीर में आत्मा भिन्न-भिन्न है। एक ही आत्मा समस्त शरीरों में व्याप्त होती तो एक के दुःखी होने पर सब दुखी होते और एक के सुख से सभी को सुख मिलता। एक की मृत्यु होने पर सब मर जाते और एक का जन्म होने से सब का जन्म होता। सब के विचार एक-से होते। मगर देखते हैं कि बाप के दिमाग में और कुछ है तो बेटे के मगज में कुछ और ही है। उधर लुगाई की समझ न्यारी ही है। भिन्न-भिन्न आत्मा न होती तो भिन्न-भिन्न विचार भी नहीं होते। कहावत है—'माँ ने जाये चौदह पूत, एक देवता तेरह भूत।' एक माता के चौदह पुत्रों में से कोई कैसा और कोई कैसा है!

अतएव भगवान् ने इन्द्रभूति से कहा—इन्द्रभूतिजी, द्रव्य से जीव अनन्त हैं।

क्षेत्र से जीव अगर लम्बा-चौड़ा हो तो लोकाकाश के बराबर होता है। साधारणतया जीव का परिमाण कर्मोदय से प्राप्त देह के बराबर होता है। बारीक से बारीक जीव इतने छोटे होते हैं कि

सुई के अग्रभाग जितनी जगह में भी अनन्त जीव समा सकते हैं। एक अंग्रेज ने परीक्षा करके देखा तो मालूम हुआ कि एक सुई के अग्रभाग पर एक लाख से भी ज्यादा जीव बैठे थे। उसने उन जन्तुओं का 'सेक्सस' नाम बतलाया है। इतने जीव तो चमड़े की आँख वाले देख कर बतला रहे हैं। यह आज कल का विज्ञान है। फिर केवलियों के विज्ञान की सूक्ष्मता का तो कहना ही क्या है? केवलियों का कथन तीन काल में भी बाधित नहीं हो सकता।

प्रश्न हो सकता है कि जो आत्मा असंख्यात प्रदेश वाला है और हाथी जैसे विशाल देह में सब जगह व्याप्त होकर रहता है और अधिक से अधिक फैलने पर सारे लोक को व्याप्त कर सकता है, वह इतने सूक्ष्म रूप में किस प्रकार समा सकता है?

इस प्रश्न का उत्तर शास्त्रों में दिया गया है। आत्मा में संकोच-विस्तार का गुण है। उसके प्रदेश फैल भी सकते हैं और सिकुड़ भी सकते हैं। जैसे दीपक बड़े स्थान में रख दिया जाय तो उसका प्रकाश फैल कर उस स्थान को व्याप्त कर लेता है, और वही दीपक यदि छोटे-से स्थान में रख दिया जाय तो प्रकाश सिकुड़ कर उसी में समा जाता है, इसी प्रकार आत्मा के प्रदेशों में भी संकोच और विस्तार होता है।

काल से जीव नित्य और अविनाशी है। न उसका जन्म है और न मरण है। इस आत्मा पर कर्मों का कितना ही उग्र से उग्र प्रहार हो फिर भी वे जीव का नाश नहीं कर सकते। आत्मा अनादि से है और अनन्त काल तक रहता है। सत् पदार्थ का कभी सर्वथा विनाश नहीं होता और आत्मा सत् है, अतएव उसको नष्ट करने का सामर्थ्य किसी में नहीं है।

जीव की सत्ता का परिचायक लक्षण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर है-चेतना! चेतना लक्षण से जीव की पहिचान होती है।

भाइयो ! यह केवलियों के वचन हैं। इधर-उधर से इकट्ठे किये हुए नहीं हैं।

गाँव में एक पंडित थे। वह पढ़े-लिखे नहीं थे और न ठीक तरह गिनती गिनना जानते थे। फिर भी ब्राह्मणी की योनि से उत्पन्न होने के कारण वह पण्डित कहलाते थे। गांव के लोग उनसे पूछते-आज क्या तिथि है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए उन्होंने घर में कुछ कंकरिया रख छोड़ी थी। एकम होती तो एक कंकरी अलग रख देते और फिर प्रतिदिन उसमें एक-एक कंकरी मिलाते जाते थे। गांव वाले पूछते तो एक दिन एकम कहते और दूसरे दिन दूज कह देते थे। एक दिन उनकी पत्नी ने झाडू लगाते समय तमाम कंकरियाँ इकट्ठी कर दीं। चौथे दिन उन्होंने तिथि देखने के लिए कंकरियाँ देखीं तो पता चला कि कंकरियाँ तो इकट्ठी कर दी गई हैं। तब औरत से कहा-अरी, यह क्या कर दिया तूने ? गांव वाले पूछेंगे तो क्या तिथि बतलाऊँगा ? पंडितानी ने कहा-कंकरियाँ इकट्ठी हो गई हैं तो कह देना कि-आज घसड़ पसड़ की चौथ है। कोई पूछ सकता है कि यह घसड़ पसड़ की चौथ क्या है, तो कह देना-एक बार तो पांडवों के समय में आई थी और दूसरी बार आज आई है।

गांव वालों में से जिसने पूछा, उससे यही कहा। ठाकुर साहब ने पूछा, तब भी वही घसड़ पसड़ की चौथ बतलाई। ठाकुर साहब ने कहा-पण्डितजी यह कैसी चौथ है ? तो पण्डितजी ने कहा-एक बार पांडवों के समय में आई थी तो महाभारत की लड़ाई हुई थी। अब दूसरी बार आज आई है। बड़ा अनिष्ट होने की संभावना है। ठाकुर साहब ने अनिष्ट निवारण का उपाय पूछा तो पंडित बोले-सफाई कराओ, खूब सीधा-सामान दो, ब्राह्मण भोजन कराओ। इससे अनिष्ट दूर हो जायगा।

उसी दिन से सारे गांव की सफाई होने लगी। उस दिन काशी से पढ़कर एक पंडित इसी गांव के पनघट पर आया था। जब औरतें पानी भरने गई तो उसने पूछा-आज इतनी देर से पानी भरने कैसे आई ?

औरतें बोलीं-आज घसड़पसड़ की चौथ है, अतएव सफाई हो रही है।

यह सुन कर पंडित अचंभे में आ गया। सोचने लगा-घसड़पसड़ की चौथ तो मैंने आज तक न सुनी और न किसी शास्त्र में पढ़ी। ज्योतिष घोंट ली, पर यह चौथ कहाँ रह गई !

काशी वाला पंडित ठाकुर साहब के यहाँ जाकर बोला-ठाकुर साहब, घसड़पसड़ की चौथ तो होती ही नहीं। ठाकुर बोले-ऐसी बात है तो हमारे गांव के पंडितजी से शास्त्रार्थ कर लो।

पंडितजी बुलवाये गये और उन्होंने भी शास्त्रार्थ करना स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् वे अपने घर गये और पत्नी से बोले-तूने आज मुसीबत में डाल दिया मुझको। यह घसड़पसड़ की चौथ दिमाग से पैदा कर दी। अब इस पर शास्त्रार्थ करना पड़ेगा। मैं कुछ पढ़ा-लिखा नहीं हूँ; शास्त्रार्थ में क्या कहूँगा ? अब पेट भरना भी कठिन हो जायगा और अमावस्या के लड्डू भी मारे जाएँगे।

पंडित ने लम्बा तिलक लगाया छापे लगाये, पीतांबर धारण किया, नीलांबर पहना, गले में पाँच-सात मालाएँ पहनी और ठाकुर साहब के घर की ओर चले। रास्ते में पंडित ने देखा-एक झोंपड़ी पर तूंबे की सूखी बेल लगी है। बकरी उसे खींच रही है। खींचने से एक तूंबा गिरा और बकरी व्यां-व्यां करने लगी।

यह दृश्य देखते ही पंडित का चित्त प्रसन्न हो गया। उसने सोचा– बस, उस पंडित से यही प्रश्न करूँगा।

पंडित शरीर से मोटा ताजा था और रौबदार दिखाई देता था। काशी वाला पंडित दुबला--पतला था। ठाकुर साहब के यहाँ पहुँच कर पंडित बोला--मैं शास्त्रार्थ के लिए तैयार हूँ। पहले एक सवाल करूँगा।

काशी के पंडित ने कहा--ठीक है, जो इच्छा हो सो प्रश्न आप कर सकते हैं।

ग्राम पण्डित ने पूछा–'सडडड-पट-व्याम' का क्या अर्थ होता है?

प्रश्न सुनकर काशी का पण्डित सोच-विचार में पड़ गया। कुछ समझ में नहीं आया कि यह 'सडडड-पट-व्याम' क्या बला है। यह भी पता न चला कि किस भाषा का सूत्र है। पण्डित वास्तव में विद्वान था और अडंगे मारना नहीं जानता था। उसने सोचा-सभा में बोलना तो सत्य और प्रामाणिक बात ही कहना चाहिए। ज्ञान सभा का भूषण है। ज्ञानवान् पुरुष सभा में बोलते हैं तो सोच समझ कर ही बोलते हैं मूर्खों की तरह अंटसंट नहीं बोलते।

काशी के पंडित को सोच विचार में पड़ा देख और कोई उत्तर देते न देख लोगों ने कह दिया–'हार गए, हार गए।' ठाकुर साहब ने ऊंट और उस पर लदी हुई उसकी किताबें ले लीं और पण्डित को रवाना कर दिया।

पंडित का मुँह उतर गया। वह उदास होकर आगे चला। आखिर वहाँ न्याय करने वाला था कौन? जैसे पंडित वैसे ठाकुर साहब! चुपचाप रवाना हो गये।

काशी के पंडित आगे चले तो अपने रिश्तेदार के गाँव में पहुंचे। रिश्तेदार ने उदासी का कारण पूछा तो उन्होंने सारी कथा कह सुनाई। रिश्तेदार ने हँसकर कहा-आपने शास्त्र बहुत पढ़े हैं, पर अडंग बडंग की पोथी नहीं पढ़ी है। चलिए हमारे साथ। हम उस पण्डित से शास्त्रार्थ करेंगे।

दोनों फिर उसी ग्राम के ठाकुर साहब के पास पहुंचे और फिर शास्त्रार्थ की चुनौती दी। उस ग्रामीण पंडित को बड़ा अभिमान हो गया था। समझने लगा था-कौन मेरे प्रश्न का उत्तर दे सकता है? उसने चटपट वही प्रश्न दोहराया-'सडडड पर व्याम' का क्या अर्थ है?

दूसरा ग्रामीण पंडित बोला-ओहो, आप तो अशुद्ध और अधूरा श्लोक बोल रहे हो। शुद्ध और पूरा बोलो।

इस बार वह पंडित घबड़ा गया। कहने लगा-मैं तो इतना ही जानता हूँ। तब उसने कहा-तुम नहीं जानते तो मैं पूरा बतलाता हूँ। यह कह कर उसने पाठ पूरा किया।

'गाजकं गाजं, चर्पकं चर्पं, बीजकं बीजं, लंबकलंबं, तुंबकतुंबं, सुक्क सुक्कं सडडडपट व्यां।'

इस सूत्र का अर्थ यह है-आप घर से आ रहे थे तब आपने सूखे तूंबे की बेल देखी। उसे नीचे से बकरी खींच रही थी। खींचने से उसमें लगा तूंबड़ा बकरी के ऊपर पड़ा। इस कारण बकरी आहत होकर बोली-व्यां।

कहो यही अर्थ ठीक है ना? कहिए ठाकुर साहब, यह अर्थ आपको भी सही लगता है?

ठाकुर साहब ने कहा-अच्छा पण्डितजी, आप जीत गये और हमारे पण्डितजी हार गये। बोलो, क्या चाहते हो? इन पंडित को दो हजार की जागीर दे रक्खी है, वह तुम्हें दे दें?

मगर उस पढ़े-लिखे पंडित ने सोचा-यह लोग कुछ समझते नहीं हैं। इनकी नासमझी से पंडित के बेचारे बाल-बच्चे भूखे मर जाएँगे। उन बच्चों का क्या हाल होगा?

कहावत है-'दाना दुश्मन भला पर नादान दोस्त भला नहीं।' यह कहावत यहाँ पूरी तरह चरितार्थ हुई। पंडित ने सोचा हम अपने जातिभाई का सत्यानाश करके ऊँचे बने तो क्या बड़ा काम किया?

एक वणिक् दूसरे वणिक् की काट करता है और उसे नीचा दिखाने की चेष्टा करता है। कहा है—

जात जात में फूटाफूटी,
जहाँ देखो वहाँ लूटालूटी।

कहाँ तो इतने बड़े आदमी कहलाते हैं, मगर आपस की फूट से दूसरे सिरमौर बन गये। अपनी जाति के व्यक्ति को हानि पहुँचाना कुत्ते की आदत होती है।

काशी के पण्डित ने कहा-ठाकुर साहब, हमें जागीर नहीं चाहिए। हमें तो हमारा ऊँट और पुस्तकें लौटा दीजिए। जागीर इन्हीं पण्डितजी के पास रहने दीजिए। यह तो बड़े अच्छे पण्डित हैं।

पण्डितजी अपनी पुस्तकें लेकर घर चले। सब लोगों ने उनकी उदारता और निस्पृहता की प्रशंसा की।

यह तो एक दृष्टान्त है। लेकिन भला आदमी वही है जो दुनिया का भी भला करे और अपना भी भला करे। जो दुनिया का भला करता है और अपना नुकसान कर लेता है, वह दूसरे नंबर का भला आदमी है, लेकिन जो दूसरे का नुकसान करके अपना भला करता है, वह नीच है।

आखिर घलड़पसड़ बातों से काम नहीं चलता। भगवान् महावीर ने गौतम इन्द्रभूति को स्पष्ट, निश्चयात्मक एवं यथार्थ कहा-आत्मा है और वह अखंड है, अविनाशी है और नित्य है। वह चेतना लक्षण से युक्त है। और कैसी है, सो कहा है—

दृश्य अदृश्य जो ज्ञेय पदार्थ ज्ञाता अवश्य कहावे।
तन इंद्री जो भोग है वस्तु, यूं भुक्ता सिद्ध हो जावे॥

कोई पदार्थ आँखों से दिखाई देता है, उसे दृश्य कहते हैं। कोई नहीं दिखाई देता, वह अदृश्य कहलाता है। यह दो प्रकार के ज्ञेय पदार्थ हैं। जब पदार्थ ज्ञेय हैं तो उनका ज्ञाता भी कोई अवश्य होना चाहिए। अगर कोई जानने वाला ही न हो तो पदार्थ ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य किस प्रकार कहे जा सकते हैं?

शरीर में पाँच इन्द्रियाँ हैं। कानों से सुना जाता है, नेत्रों से देखा जाता है, नाक से सूंघा जाता है, जीभ से स्वाद लिया जाता है और स्पर्शन से स्पर्श का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। यह पाँचों इन्द्रियाँ कारण हैं, साधन हैं, और औजार हैं। मगर इनसे काम लेने वाला भी तो होना चाहिए। कोई भी करण कर्त्ता के बिना क्रिया नहीं कर सकता। कोई औजार कारीगर के बिना अपने आप नहीं चलता। उसे चलाने वाला कोई न कोई अवश्य होता है। इसी प्रकार इन्द्रियों से काम लेने वाला भी कोई कर्त्ता चाहिए। वह कर्त्ता ही आत्मा है।

इसी प्रकार संसार में भोग्य पदार्थ हैं तो उनका भोक्ता भी होगा ही। भोक्ता न होगा तो भोग्य कैसे होगा? जो भोक्ता है वही आत्मा है।

और भी कहा—

सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष आत्मा, अल्पज्ञ अनुमान लगावे।
बिना जीव संशय हो किसको, क्यों न ध्यान में लावे॥

संसार में दो प्रकार की आत्माएँ हैं-एक सर्वज्ञ और दूसरी अल्पज्ञ। जो केवल ज्ञानी और केवल दर्शनी हैं वे सर्वज्ञ आत्मा हैं। उनको आत्मा का साक्षात्कार होता है। वे प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा को जानते हैं। अल्पज्ञ आत्मा हम लोग हैं। हमें स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के अतिरिक्त इन्द्रियों से आत्मा का ज्ञान नहीं होता और अतीन्द्रिय ज्ञान हममें है नहीं। अतएव हम अनुमान प्रमाण से आत्मा का अस्तित्व जानते हैं।

जिन अनुमानों से आत्मा का अस्तित्व निश्चित होता है, उनमें से कुछ अनुमान प्रमाण ऊपर दिखलाये हैं। यहाँ एक अनुमान का पुनः उल्लेख कर दिया गया है और वह यह है कि-आत्मा का अस्तित्व अवश्य है, क्योंकि आत्मा के विषय में संशय उत्पन्न होता है। आत्मा न होती तो उसके विषय में संशय कौन करता?

भाइयो! यह कितना अच्छा ज्ञान है! और फिर कहा है-

अरूप होने से इन्द्री अगोचर वर्णादिक नहिं पावे।
चौथमल कहे इन्द्र भूतिजी दीक्षित तब हो जावे॥

आत्मा अरूपी है अर्थात् उसमें वर्ण रस गंध स्पर्श नहीं होते। इसी कारण वह इन्द्रियों से अगोचर है।

१

बहुरंगा संसार



स्तुतिः—

छत्रत्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त—
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम्।
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभं,
प्रख्यापयत् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन्! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय? हे प्रभो! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ?

जब भगवान् ऋषभदेवजी समवसरण में विराजमान होते थे तो उनके सिर पर तीन छत्र सुशोभित होते थे। वह छत्र एक दूसरे के ऊपर होते थे। कितनी सुन्दर शोभा थी उन छत्रों की। वह चन्द्रमा के समान उज्ज्वल कान्ति वाले थे। उनके मस्तक पर

सुशोभित होने से भगवान को सूर्य की किरणों का ताप स्पर्श नहीं करता था। उन छत्रों में नीचे लटकने वाले मोतियों के गुच्छे उनकी शोभा को कई गुणा बढ़ा देते थे। तीनों छत्र इस बात को प्रकट करते थे कि भगवान् आदिनाथ ही तीनों लोकों के परमेश्वर हैं, आराध्य हैं, पूज्य हैं, नमस्करणीय है। ऐसे भगवान् ऋषभदेव हैं। उन्हीं को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

वास्तव में भगवान् तीनों लोकों के नेता हैं, पथप्रदर्शक हैं। अपने ज्ञान से जानकर उन्होंने ही आदिकाल में समाज व्यवस्था का ज्ञान दिया। जीवननिर्वाह के उपाय बतलाये। फिर स्वयं दीक्षित होकर, तपश्चरण करके, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी का पद प्राप्त करके आत्मा के उत्थान के लिए हमें धर्म का बोध प्रदान किया।

भगवान् ने फर्माया कि छह बातें ऐसी हैं जिन्हें करने का सामर्थ्य किसी में नहीं है। उनमें से पहली बात यह थी कि जीव को अजीव बनाना असंभव है। कल इस विषय का वर्णन किया जा चुका है। आत्मा की पृथक् सत्ता और नित्यता सिद्ध की जा चुकी है। भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति के आत्मा संबंधी संशय को दूर किया, यह भी संक्षेप में बतलाया जा चुका है।

उन छह बातों में दूसरी बात है-अजीव को जीव नहीं बनाया जा सकता। जैसे जीव को अजीव बनाना किसी की शक्ति में नहीं, उसी प्रकार अजीव को जीव बनाना भी शक्ति से बाहर की बात है।

तथ्य यह है कि जीव और अजीव दोनों मौलिक पदार्थ हैं। जो मौलिक पदार्थ होते हैं, उनमें भी परिणमन तो होता है, पर विजातीय परिणमन नहीं हो सकता, सिर्फ सजातीय परिणमन ही होता है। जिस वस्तु का जो स्वभाव है, वह नष्ट नहीं किया जा

सकता और नवीन स्वभाव उत्पन्न भी नहीं किया जा सकता! आकाश अरूपी द्रव्य है तो उसे रूपी बनना असंभव है और रूपी पुद्गल लाख प्रयत्न करने पर भी अरूपी नहीं बन सकता।

कई लोग कहते हैं-भगवान् ने सब जीव बनाये हैं, परन्तु जीव बनने की चीज़ ही नहीं है। जो चीज बनेगी उसका नाश भी होगा। यह कुर्त्ता, धोती, अंगरखी, दुपट्टा टोपी, मकान और शरीर वगैरह बने हुए हैं तो इनका नाश होना भी अनिवार्य है।

जीव और अजीव यही दो मूलभूत पदार्थ हैं। सारी विशाल सृष्टि का जो प्रपंच दिखाई देता है, इन्हीं का विस्तार है। दोनों शाश्वत हैं, अनादि हैं और अनन्त हैं। उन्हें न किसी ने बनाया है और न कोई बिगाड़ सकता है। जो लोग कहते हैं कि भगवान ने अजीव का निर्माण किया है, उनसे पूछना चाहिए कि भगवान् रूपी है या अरूपी? अगर वह रूपी है तो आँखों से दिखाई देना चाहिए। यदि अरूपी है तो उससे रूपी पदार्थ कैसे बन गये? अरूपी से रूपी नहीं बन सकता और रूपी से अरूपी नहीं बन सकता। जैसे सूर्य से अंधकार नहीं उत्पन्न हो सकता, इसी तरह ईश्वर से अजीव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि ईश्वर भी जीव ही है, वह जीव जाति से न्यारा कोई पदार्थ नहीं है।

इस तरह निश्चित है कि जीव सदा जीव ही रहता है और अजीव अजीव ही रहता है। यदि अजीव कभी जीव बन जाय तो जीव के भी अजीव बन जाने का अवसर आ सकता है। ऐसी स्थिति में दोनों मौलिक पदार्थ सिद्ध न होंगे, बल्कि जैसे एक स्वर्ण का कभी कड़ा और कभी कुंडल अवस्था होती है, उसी प्रकार एक ही पदार्थ की दो अवस्थाएँ-जीव और अजीव-माननी पड़ेगी। किन्तु दोनों के स्वरूप में इतना अधिक भेद है कि उन्हें एक मानना उचित नहीं है।

जिसमें चेतना का अभाव हो वह अजीव कहलाता है। अजीव द्रव्य अनेक प्रकार के हैं, मगर उन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है-रूपी और अरूपी। जिसमें वर्ण हो, गंध हो, रस हो और स्पर्श हो, वह रूपी कहलता है और जिस अजीव में यह सब न हों वह अरूपी अजीव है। रूपी पदार्थ में पाँच वर्णों में से कोई वर्ण दो गंधों में से कोई गंध पाँच रसों में से कोई रस और आठ स्पर्शों में से कोई स्पर्श पाये जाते हैं, उसे रूपी समझना चाहिए। रूप, रस, गंध और स्पर्श चारों साथी हैं। इनमें से एक जहाँ होता है वहाँ चारों होते हैं और जहाँ एक नहीं होता वहाँ चारों नहीं होते।

पुद्गल का छोटे से छोटा पर्याय परमाणु है, परन्तु वह रूपी है और उसमें भी वर्णादिक चारों विद्यमान रहते हैं। शब्द भी पुद्गल है और रूपी है। अंधकार भी पुद्गल है। प्रकाश भी पुद्गल का ही पर्याय है। यह सब इन्द्रिय ग्राह्य अजीव पुद्गल हैं। आत्मा के साथ बँधने वाले कर्म यद्यपि बहुत सूक्ष्म हैं, तथापि वे भी पौद्गलिक होने से रूपी हैं। इन रूपी कर्मों से बद्ध होने के कारण स्वभावतः अरूपी जीव भी रूपी बन रहा है जब जीव अपने पुरुषार्थ से कर्म मुक्त होता है तब अपनी असली स्थिति को अर्थात अरूपी दशा को प्राप्त करता है। इस प्रकार जीव स्वभाव से अरूपी परन्तु विभाव से रूपी है।

कर्म चौस्पर्शी पुद्गल हैं और इसी कारण वे दिखाई नहीं देते। हवा आठस्पर्शी होने पर भी दीखती नहीं, फिर भी स्पर्शनेन्द्रिय से उसका प्रत्यक्ष होता है।

राजा प्रदेशी ने केशी स्वामी से जो प्रश्न किये थे, उनमें एक प्रश्न यह भी था कि-अगर आप शरीर से भिन्न जीव मानते

हैं तो अपने शरीर में से जीव निकाल कर दिखला दीजिए। आप दिखला देंगे तो मैं जीव का अस्तित्व मान लूँगा।

क्या प्रश्न है! प्रश्न प्रश्नकर्त्ता की इच्छा पर निर्भर है। जैसा उसके दिमाग में आवे, वैसा ही वह प्रश्न पूछ सकता है। वह कह सकता है कि जैसे म्यान में तलवार है उसी प्रकार अगर शरीर में जीव है तो म्यान में से बाहर निकाल कर तलवार दिखलाई जा सकती है, उसी प्रकार शरीर में से बाहर निकाल कर जीव भी दिखलाना चाहिए। जैसे बोर का गिर अलग और गुठली अलग देखी जा सकती है उसी प्रकार जीव अलग और शरीर अलग दिखलाना चाहिए।

भाइयो, इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर पहुंचे हुए ज्ञानी ही दे सकते हैं। केशी श्रमण ऐसे ही ज्ञानी थे। वे चार ज्ञानों के धनी थे। बड़े ही सौभाग्य से ऐसे गुरू मिलते हैं। तीन राजाओं को जबर्दस्त गुरु मिले। प्रदेशी राजा को केशी श्रमण, श्रेणिक राजा को अनाथी मुनि और शिकारी राजा संयति को गर्दभालि मुनि मिले। और जबर्दस्त को दबाने के लिए जबर्दस्त ही चाहिए। प्रभावशाली व्यक्ति पर साधारण मनुष्य अपना प्रभाव नहीं डाल सकता। राजा पर प्रभाव डालना और उसके बद्धमूल संस्कारों को दूर करके सत्य संस्कार डालना कोई हँसी खेल नहीं है। इसके लिए राजा से भी अधिक प्रभाव उपदेशक में होना चाहिए। केशी स्वामी ऐसे ही महामहिम मुनिराज थे। जब राजा प्रदेशी ने उन्हें हथेली पर लेकर जीव को दिखलाने की मांग की तो गुरुदेव केशी ने उसका बड़ा सुन्दर उत्तर दिया। उद्यान में यह तत्त्वचर्चा चल रही थी और उस समय तीव्र वायु बह रही थी। वायु के कारण वृक्षों की शाखाएँ, प्रशाखाएँ और पत्रावली कम्पित हो रही थीं। यह देख मुनिराज ने कहा—

इतने वायुकाया के योग से; हाल्या छे तृण वृक्ष पान।
देव चलाया या क्रिया योग सूं, राजा कहे वायु काया जान।
सांभल हो राजा, जीव ने कायाओ न्यारी मानीए॥

मुनि पूछते हैं--राजन्, यह जो वृक्ष आदि हिल रहे हैं सो दैवयोग से हिल रहे हैं या हवा से?

राजा ने उत्तर दिया-यह हवा से हिल रहे हैं।

मुनिराज-तुम हवा को मानते हो?

राजा-जी हाँ।

मुनिराज-तो कहो हवा कैसी है? तुमने हवा देखी है क्या?

राजा--नहीं, देखी तो नहीं है महाराज।

मुनिराज- तुम जीव को हथेली पर रख कर देखने की माँग करते हो तो मैं कहता हूं कि तुम हवा को हथेली पर रख कर दिखला दो।

राजा मुनिराज की युक्ति सुनकर मौन हो रहा। तब मुनिराज ने आगे कहा—

रूपी सवेदो सलेशी कहो तो;
वायु भी नजरा आवे नाय।
जीव अरूपी धार हाथ में,
कैसे बताऊं थाने राय॥१॥

राजन्! देखो यह हवा रूपी है। इसमें वेद भी विद्यमान है-यह नपुंसक एकेन्द्रिय जीव है। इसमें क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय हैं, लेश्या है। ऐसी हवा को भी तुम नहीं बता सकते

तो जीव को, जो स्वभाव से अरूपी है, निकाल कर कैसे दिखलाया सकता है ? जब हवा भी नहीं दिखलाई जा सकती तो जीव कैसे दिखलाया जाय ?

आज तो लोगों ने धर्म का बँटवारा-सा कर रक्खा है। यह धर्म मेरा और वह धर्म तेरा, इस प्रकार की बातें सुनाई देती हैं। मगर यह धारणा अज्ञानमूलक है। जैसे सूर्य और चन्द्र का, आकाश और दिशा का बँटवारा नहीं हो सकता, उसी प्रकार धर्म का बँटवारा नहीं हो सकता। जैसे आकाश, सूर्य, आदि प्राकृतिक पदार्थ हैं। वे किसी के नहीं है, अतएव सभी के हैं, इसी प्रकार धर्म भी वस्तु का स्वभाव है और वह किसी जाति, प्रान्त, देश या वर्ग का नहीं होता। धर्म उसी का है जो उसे स्वीकार कर लेता है। धर्म का प्रांगण संकीर्ण नहीं, बहुत विशाल है। वह उस कल्पवृक्ष के समान है जो समान रूप से सब के मनोरथों की पूर्त्ति करता है और किसी प्रकार के भेदभाव को प्रश्रय नहीं देता।

जिन महापुरुषों ने धर्म का उपदेश किया, वे किसके थे ? जो उनकी शरण में गये, उन्हीं के थे। महावीर किसी जाति या वर्ण के उपास्य नहीं थे। वे क्षत्रिय कुल में जन्मे थे, मगर उनके प्रधान शिष्य-गणधर ब्राह्मण थे। ब्राह्मणों ने इस धर्म का प्रचार किया और आज इसके अधिकांश अनुयायी वैश्य हैं। ऐसी हालत में जैनधर्म क्षत्रियों का माना जाय या ब्राह्मणों का अथवा वैश्यों का ? वह तो सभी का है, सभी का रहा है और सभी का रहेगा।

मगर आज संकीर्ण भावनाएँ इतनी प्रबल हो गई हैं कि लोग पृथक्-पृथक् चूल्हों की तरह धर्म को भी पृथक्-पृथक् जातियों का कहने लगे हैं। यह धर्म इनका और यह धर्म उनका ! पर प्राचीन काल में ऐसी विचारपद्धति को कोई अवकाश नहीं था। गौतम स्वामी ब्राह्मण विद्वान् थे, पर उनके दिमाग में निर्ग्रन्थ धर्म

की सत्यता समझ में आई तो चटपट चेले बन गये भगवान् महावीर स्वामी के।

वही व्यक्ति वास्तव में सत्यप्रिय है जो सत्य को समझ लेने पर उसे सर्वतोभावेन स्वीकार कर लेता है।

आज के लोग जिद्दी हैं। वे सरल भाव सत्य को भी स्वीकार नहीं करते। सत्य का स्वरूप समझ लेने पर भी उसको स्वीकार करने में सौ बहाने बनाते हैं। गौतम स्वामी पहले ही कह गये हैं कि अब सरल और सीधे आदमी नहीं होंगे, वरन् वक्र और जड़ होंगे।

गुरु चेले से कहता है-धोवन-पानी नहीं लाया ? तो चेला झट उत्तर देता है-बस, आपको तो यह नहीं लाया, वह नहीं लाया की ही रट लगी रहती है। क्या मेरे जान नही है ! वह सीधी तरह नहीं कहता कि--अभी ले आता हूँ।

मीठे ढंग से बात न कह कर आड़ी-टेढ़ी बातें करने से कभी-कभी निष्कारण ही झगड़ा बढ़ जाता है। फिर उसे शान्त करने में कितनी शक्ति लगानी पड़ती है !

क्या सुन रहे हो ? पंचम काल के जीव बांके हैं और जड़ हैं। यह नहीं कहते कि--जी हाँ, यही करूँगा, आप माता हैं, पिता हैं, बड़े हैं; आप नहीं बतलाएँगे तो और कौन बतलाएगा ? मगर जब तक इस प्रकार की सरलता और नम्रता नहीं आएगी तब तक आत्मा का उत्थान होना बहुत कठिन है।

भगवान् ने मनुष्यों की तीन अवस्थाएँ बतलाई हैं—

पुरिमा उज्जुजडा उ, वंकजडा य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपन्ना उ, तेण धम्मे दुहाकए॥

भगवान् ऋषभदेव के समय में मनुष्य सीधे और भोले होते थे। उदाहरणार्थ--गुरु ने चेले से पूछा--क्यों चेला, इतनी देर क्यों लगी ? तब चेला बोला--'रास्ते में नाटक हो रहा था। उसमें स्त्री नाच रही थी। उसे देखने लगा।' गुरु ने कहा--'देख चेला, स्त्री का नाच नहीं देखना।' चेले ने कहा--जो आज्ञा गुरु महाराज की !

दूसरे दिन चेला बाहर गया तो और मार्ग में नट का नृत्य देखने लगा। गुरु ने पुनः विलम्ब का कारण पूछा तो कहा-आज पुरुष का नृत्य हो रहा था। आपने स्त्री का नृत्य देखने का निषेध किया था, अतः मैंने पुरुष का नृत्य देखा।

गुरु बोले--भाई, किसी का भी नृत्य नहीं देखना।

चेले ने कहा--जो आज्ञा !

यह चेले का भोलापन था, धूर्तता नहीं थी। एक इशारे में बहुत-सी बातें समझ लेने की शक्ति उस जमाने में नहीं थी, फिर वे बड़े सीधे और भोले थे।

मध्य काल के लोग चतुर और सरल भी थे। वे महाभाग्यवान् जीव थे। एक समय चेला कहीं गया तो किसी ने गरमागरम बड़े बहरा दिये। रास्ते में उसने विचार किया-इसमें से कितनी मनोज्ञ गंध निकल रही है। गुरु महाराज सब बड़े तो खाएँगे नहीं, आधे मुझे देंगे ही। तो मैं अपने हिस्से के यहीं क्यों न खा लूँ ? स्थान पर पहुँचते-पहुँचते तो ठंडे हो जाएँगे।

यह सोचकर शिष्य ने गिना तो वे ३२ थे। उसने सोलह बड़े खा लिये। कुछ आगे चला तो फिर सोचा-इनमें से भी गुरुजी आधे मुझे देंगे। यह सोच उसने आठ बड़े फिर खा लिये। फिर कुछ कदम चलने के बाद और वैसा ही विचार कर चार बड़े खा

गया और फिर दो और खा गया। अब केवल दो बचे। जब स्थानक के द्वार पर पहुंचा तो यह सोचकर की गुरुजी इनमें से भी एक मुझे देंगे, एक और गटक गया।

एक बड़ा लेकर गुरु के पास पहुँचा। पात्र दिखलाया। पात्र देखकर गुरुजी ने कहा ऐसा कौन भाग्यवान् दाता मिला आज जिसने एक ही बड़ा बहराया।

चेला बोला--भगवन्, उसने तो ३२ बहराये थे। परन्तु मैंने यह सोचकर कि आप मुझे आधे देंगे, कई बार में ३१ बड़े खा लिये। अब यही एक बड़ा बचा है।

गुरु ने कुछ खिन्न होकर कहा--चेले, मेरी गैरमौजूदगी में बड़े तेरे गले में कैसे उतरे? तब बचा हुआ उस एक बड़े को मुँह में डाल कर बोला--गुरुजी, ऐसे उतरे!

गुरु ने उसे समझाया--हे वत्स, यह तेरा कर्त्तव्य नहीं है। जो गुरु के हाथ से प्राप्त हो, वही खाना चाहिए।

चेला--अच्छा गुरुजी, अब कभी नहीं खाऊँगा। आप हाथ से देंगे तभी खाऊँगा।

अन्तिम तीर्थंकर के जमाने के लोग वक्र और जड़ होते हैं। इनकी प्रकृति को समझने के लिए एक उदाहरण दिया गया है, जो इस प्रकार है।

एक बार गुरु ने शिष्य से कहा--वत्स किवाड़ बंद कर दे। चेला बोला--बिल्ली आई है।

फिर गुरु ने पूछा--क्यों चेला, क्या छींटे पट रहे हैं? बन्द हुए या नहीं?

चेला--बिल्ली आई है। हाथ फेर लीजिए तो पता चल जायगा।

गुरु--अच्छा, किवाड़ तो बंद कर दे।

चेला--दो काम मैंने कर दिये; यह आप स्वयं कर लीजिए।

ऐसे चेले होते हैं! सीधी बात कहो तो आँखें दिखलावें और लड़ने को तैयार हो जावें। और गुरु महाराज भी तो उन्हीं में हैं।

भाइयो! ऐसे जीवों को केवलज्ञान हो तो कैसे हो? और अवधिज्ञान तथा मनःपर्यवज्ञान भी कैसे हो? यह अतीन्द्रिय ज्ञान तो तब होते हैं जब मन में पाप न हो और चित्त शुद्ध और सरल हो। चित्त की शुद्धता अभ्यास से होती है। जरा--सी प्रशंसा से फूल कर कुप्पा हो जाने वाले एवं थोड़ी--सी निन्दा से आगबबूला हो जाने वाले लोगों के चित्त स्वच्छ और पवित्र नहीं होते।

पाँचवें आरे के जीवों में क्रोध, मान, माय और लोभ बहुत है। यह परिवर्त्तन यों तो धीरे--धीरे हुआ, मगर चौथा आरा उतरने और पाँचवें आरे का आरंभ होते ही सहसा कल्पनातीत परिवर्त्तन हो गया।

चतुर्थ काल की अन्तिम रात्रि से कुछ पहले की बात है। एक साहूकार ने दूसरे साहूकार से जमीन खरीदी। साहूकार खरीदी हुई जमीन पर जब मकान बनवाने लगा तो नींव खोदते-खोदते धन निकल पड़ा। मजदूरों ने साहूकार को, धन निकलने की सूचना दी। तब उस साहूकार ने दूसरे साहूकार को, जिससे वह जमीन खरीदी थी, बुलाकर कहा-यह धन आपका है। इसे आप ले जाइए।

दूसरे साहूकार ने उत्तर दिया-जमीन आपको बेची जा चुकी है। इसमें जो भी निकले वह आपका ही है। यह धन आपके भाग्य से निकला है। इस पर आपका अधिकार है।

जमीन के स्वामी साहूकार मानता था कि मैं सिर्फ जमीन का मालिक हूँ। मैंने जमीन के दाम दिये हैं, धन के नहीं। अतएव मैं इस धन का अधिकारी नहीं हूँ। इसका अधिकारी जमीन का पहला मालिक है। परन्तु जब पहले मालिक ने धन को स्वीकार न किया तो उसने राजा को सूचना दी और कहा-आप पृथ्वी के स्वामी हैं। आप उस धन को अपने भंडार में मँगवा लीजिए।

राजा ने कहा—मैं जो कर वसूल करता हूँ; उसके अतिरिक्त धन का अधिकारी नहीं। वह धन मेरा नहीं है। मुझे दूसरे के धन की आवश्यकता नहीं है।

भाइयो! यह अभी के लोगों की बात नहीं, चौथे आरे के लोगों की बात है।

राजा से भी निराश होकर साहूकार पंचों के पास गया और उस धन को सँभाल लेने की बात कही। कहा—यह धन किसी व्यक्ति का नहीं, सार्वजनिक है, अतएव पंच इसे सँभाल लें।

परन्तु पंचों ने भी उसे सँभालने से इंकार कर दिया। उन्होंने कहा—किसी सार्वजनिक कार्य के लिए अभी धन की आवश्यकता नहीं है। बिना आवश्यकता यह बोझ क्यों वहन किया जाय ?

इस प्रकार किसी ने भी उस धनराशी को स्वीकार न किया और वह अनाथ की तरह पड़ा रहा। उसे सब ने फुटबॉल की तरह ठुकरा दिया।

मगर आधी रात बीत गई और पाँचवा आरा आरंभ हो गया। पंचम आरे का आरंभ होते ही लोगों की भावना में परिवर्त्तन हो गया। जमीन खरीदने वाले ने सोचा-मैं कितना मूर्ख हूँ

कि अपनी जमीन में निकले धन को सँभलाने के लिए इधर-उधर भटकता रहा। मेरी जमीन में निकला धन मेरा ही है, किसी और का नहीं हो सकता।

उधर जमीन बेचने वाले का भी दिमाग बदल गया और वह उस धन को लेने के लिए आ धमका। उसने दावा किया कि यह धन मेरा है तेरा नहीं। तूने सिर्फ जमीन का मूल्य दिया है, इस धन का नहीं।

कालकृत यह परिवर्त्तन सर्वव्यापी था, अतएव राजा ने भी अपने सिपाही धन ले आने को भेज दिये और उधर पंच भी पधार गये।

सब लोग परस्पर विवाद करने लगे और उस धन पर अपना-अपना अधिकार स्थापित करने लगे।

अब आप विचार कीजिए कि जिस धन के लिए कल जो भावना थी, उसमें कितना परिवर्तन हो गया! एक ही रात्रि में कितना अन्तर पड़ गया ?

एक आदमी जंगल गया तो बैठा-बैठा यों ही जमीन खुरचने लगा। भाग्य से उसे वहाँ मोहरों का भरा एक चरु दिखाई दिया। मगर उस आदमी ने सोचा-मेरे भाग्य में होगा तो मेरे घर आ जायगा। मैं यहां से मैं क्यों ले जाऊँ ?

रात्रि हुई तो उस पुरुष को उन मोहरों का ही खयाल आने लगा। इस कारण उसे नींद नहीं आई। तब स्त्री ने कहा—आज जंगल में मोहरों से भरा एक चरू दिखाई दिया, पर मैं यह सोच कर कि अगर मेरे भाग्य में होगा तो आप ही घर आ जायगा, वहीं छोड़ आया। पर वह मेरे भाग्य में नहीं था सो नहीं आया।

स्त्री ने ललचा कर कहा--एक मुट्ठी भर ले आते तो घर का काम तो चलता !

पुरुष ने फिर वही कहा—मेरी तकदीर में होगा तो छप्पर फाड़ कर आ जायगा ।

जिस समय यह वार्त्तालाप हो रहा था, उस समय उसके घर में चोरी करने के लिए चार चोर घुसे थे। उन्होंने यह बात-चीत सुन ली और सोचा-चलो, इसके यहाँ क्या मिलेगा ! आज तो मोहरों का वह चरू ही ले आवें । निहाल हो जाएँगे ।

इस प्रकार निश्चय करके वे वहाँ गये । मगर ज्यों ही जमीन खोद कर चरू को देखा तो मालूम हुआ कि इसमें तो बिच्छू ही बिच्छू कलवल कर रहे हैं !

यह देखकर उन्होंने सोचा—उस बेईमान ने हमें मरवाने के लिए बात कही थी। अब किसी प्रकार यह चरू ले जाकर उसी के घर में उड़ेलना चाहिए।

वह चरू उसके घर वे ले गये। चुपचाप उसके घर पर चढ़े और एक केलू हटा कर वह चरू औंधा कर दिया।

चोर जब मकान पर चढ़े तो स्त्री को कुछ आहट सुनाई दी। उसने धीरे-से पति से कहा यह क्या हो रहा है ? पति बोला-चुप रहो, छप्पर फाड़ कर आ रहे हैं। मगर स्त्री से न रहा गया और उसने फिर कहा-कौन आ रहे हैं ? पति बोला-लक्ष्मीजी आ रही हैं।

जब चोर चरू उड़ेल कर भाग गये तो पुरुष ने कहा—लो, जल्दी से सँभाल लो। मेरे भाग्य की चीज अनायास ही मेरे घर में आ गई ।

चोर भागने लगे तो पड़ौसियों ने आवाज सुन कर हल्ला मचाया-'चोर, चोर।' आसपास के सभी लोग जाग गये और उसका दरवाजा खटखटाया। वह नींद से उठने का डौल करता हुआ बोला-क्या मामला है? तब लोगों ने कहा-ऐसा भी कहीं सोया जाता है! देखो न, चोर तुम्हारे घर पर चढ़े थे और तुम्हें पता ही नहीं है। हम न जाग गये होते तो तुम आज बुरी तरह लुट जाते।

वह मन ही मन हँस कर कहने लगा-ओह, हमें तो पता ही नहीं चला!

चोरों ने समझा-मर गया; पर यहाँ लक्ष्मी से घर भर गया!

भाइयो! इस तरह आपके घर में मोहरें बरस पड़ें तो आप कितने प्रसन्न होंगे! देखो, लक्ष्मी आते देर नहीं है, केवल मन की भावना पवित्र होनी चाहिए। वह पुरुष मोहरें छोड़ कर आ गया, परन्तु उसके भाग्य में थीं तो घर पर आ गईं।

यह तो दृष्टान्त है। आशय यह है कि जब ज़माना पलटता है तो लोगों की नियत भी पलट जाती है। काल अपने आपमें प्रभाव रखने वाला एक द्रव्य है। चौथे आरे और पाँचवें आरे में सहसा और शनैः शनैः कितना अन्तर पड़ गया। इसको काल का प्रभाव नहीं तो क्या कहा जाय?

आज जीवन की पवित्रता का कितना ह्रास हो गया है? किसी से पूछो कि आपके गाँव में अमुक आदमी रहता है क्या? तो वह उत्तर देगा-'अजी, वह तो बड़ा बेईमान है।' इस प्रकार दूसरे के गुण तो मुँह से निकलते ही नहीं। बोलने की शिष्टता भी बहुतों में नहीं है। फिर भी वे चाहते हैं कि हमें भी मोक्ष मिल

जाय। कहिए, ऐसे दोषान्वेषी, क्षुद्रहृदय और वक्र लोगों को मोक्ष कैसे मिलेगा ? जिसका कल्याण होने वाला होता है उसका हृदय शुद्ध होता है। राजा प्रदेशी का जिक्र आपको सुनाया था। उसका कल्याण होने वाला था तो गुरु का सुयोग मिलते ही काम बन गया। असली दूध जामन पड़ते ही जम जाता है और फटा दूध क्या खाक जमेगा ! जिसके हृदय पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता, समझ लीजिए कि वह फटे दूध के समान है। यदि असल दूध हो तो राजा संयति; प्रदेशी और श्रेणिक के समान सद्गुरु का बोध पाकर सँभल ही जाना चाहिए।

उपदेश उत्तम के लगे गुरु का,
उपदेश उत्तम के लागे रे ॥ टेर ॥

जो आत्मा उज्जवल होने के कारण उत्तम है, उसे तुरंत ज्ञान लग जाता है। लगता किसे नहीं ?

पापी के उपदेश न लागे, जो दूरो-दूरो भागे रे।
उपदेश लगा है जंबू कुंवर के, अतुल सम्पदा त्यागे रे ॥२॥

जितना उच्च कोटी का मलमल होता है, उतना ही उस पर कुसुंबी रंग चढ़ता है। पाँच वर्ष से पड़े हुए पुराने टाट पर क्या रंग चढ़ सकता है।

जम्बू कुमार जाते हैं सुधर्मा स्वामी का उपदेश सुनने। जब उन्हें पता लगा कि सुधर्मा स्वामी पधारे हैं तब उनके विवाह में केवल तीन दिन घटते थे। आठ कन्याओं के साथ उनका पाणिग्रहण होने वाला था। मगर माता के पास जाकर उन्होंने कहा-माताजी ! मैं दर्शन करने जाता हूँ।

माता बोली–तेरा हल्दी-पीठी का अंग है। गांव के बाहर जाना ठीक नहीं।

जम्बू–माँ, धर्म कार्य के लिए जाने में क्या हर्ज है?

माता–बेटा, जंगल का मामला है। कौन जाने क्या हो जाय?

जम्बू–कुछ नहीं होगा माता, धर्म परम मंगल है। उससे अमंगल तो हो ही नहीं सकता।

आखिर वह धर्मोपदेश सुनने चल दिये। उन्होंने अपने जीवन में यही पहली बार व्याख्यान सुना था। सुनते ही उनका चित्त वैराग्य के सागर में निमग्न हो गया। आठों स्त्रियों का और अतुल सम्पदा का त्याग कर वे साधु बन गये।

लगा ज्ञान श्रेणिक राजा को धर्म दिपाया सागे रे।
मनुज जन्म को सार्थक कीना, बने तीर्थंकर आगे रे॥

एक दिन वह भी था जब राजा श्रेणिक मुनि को देखकर मुख फेर लेता था और रानी चेलना को धर्म से विमुख करने के लिए प्रश्नोत्तर किया करता था और कहता था-तुम्हारे गुरु तो गंदे बहुत रहते हैं। मैं ऐसे गुरु को नहीं मानता परन्तु एक बार वह घोड़े पर सवार होकर जा रहे थे कि बाग में विराजमान अनाथी मुनि पर उसकी दृष्टि पड़ गई। मुनिराज के चेहरे पर कुछ ऐसा अलौकिक और अद्भुत तेज था कि देख कर राजा मुग्ध हो गया। मुनिराज के परम सात्विक समभाव ने उसे बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। अन्य समय वह मुनि की ओर ध्यान भी न देता, पर इस समय ऐसा आकृष्ट हो गया कि आगे बढ़ने की उसमें शक्ति ही न रही। राजा फौरन घोड़े से नीचे उतरा।

राजा को मुनिराज में क्या विशेषता दिखाई दी होगी कि वह सहसा आकर्षित हो गया ? इस प्रश्न का उत्तर स्वयं उसी के मुख से दिलवाया गया है। राजा कहता है—

अहो वण्णो अहो रूवं, अहो अज्जस्स सोमया।
अहो खंती अहो मुत्ती, अहो भोगे असंगया॥

—उत्तराध्ययन, २०-६

सर्व प्रथम राजा श्रेणिक का ध्यान उनके शारीरिक सौन्दर्य की ओर गया। उनका स्वर्णसदृश गौरवर्ण और अनुपम सौम्य आकृति अद्भुत थी। तत्पश्चात् उनके सौम्य स्वरूप पर दृष्टि पड़ी। फिर चेहरे पर प्रतिबिम्बित होने वाली क्षमा, निर्लोभता और भोगों के प्रति अनाशक्ति भी उसके ध्यान में आ गई। इन सब अलौकिक गुणों से प्रभावित होकर राजा मुनिराज के निकट पहुँचा और उनके पवित्र चरणों में अनायास ही उसका मस्तक झुक गया।

उसने मुनिराज से लम्बी बातचीत की। उसका विस्तार के साथ इस समय उल्लेख नहीं किया जा सकता। मगर उस वार्तालाप के पश्चात् ही राजा पक्का श्रावक बन गया। श्रावक बनने के बाद उसने बड़ा पुरुषार्थ किया। शासन की महान् सेवा की। असंख्य जीवों को लाभ पहुंचाया। उसने इतनी उच्च कोटी की क्रिया की कि तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया।

निकले नहीं तेल बालू से, मुर्दा तो नहीं जागे रे।
कायर के नहीं लगे बोल, यह बोल सूर के लागे रे॥

रेत को घानी में डाल कर कितने ही दिनों तक पेलते जाओ, उसमें से तेल नहीं निकल सकता। और यदि मुर्दा मनुष्य को कहो

कि उठ कर कलाकंद खा लो, तो क्या वह खा सकेगा ? कभी नहीं। इसी प्रकार जिसकी आत्मा पाप से अत्यन्त कलुषित है, उस पर उपदेश का असर नहीं हो सकता।

सत्संग करतां जन्म वितायो, ज्ञान लाग्यो न अभागे रे।
चौथमल कहे काली कंबल के, रंग न दूजो लागे रे ॥

संतों का समागम करते-करते उम्र बीत गई, लेकिन किसी-किसी जीव को अभी तक ज्ञान नहीं हुआ। सूरदासजी अपने जूते और लकड़ी रख कर व्याख्यान सुनने लगते हैं और जब लौटते समय बाहर निकलते हैं तो दोनों चीजें गायब पाते हैं। जब नहीं मिलीं तो वापिस मन्दिर में जाकर भजन गाने लगे—

मेरे श्याम मन्दिर में पनहिया भी ले गयो ॥

कहने का अभिप्राय यह है कि ऐसे-ऐसे पापी जीव भी है कि धर्मस्थानों में जूते तक नहीं छोड़ते ! और तो और, पौषध करने आते हैं और अच्छी-सी दरी देखते हैं तो वह भी नहीं छोड़ते। कहा है—

अन्यस्थाने कृतं पापं, धर्मस्थाने विनश्यति।
धर्मस्थाने कृतं पापं, वज्रलेपो भविष्यति ॥

दूसरी जगह किये पाप का नाश धर्मस्थान में होता है, किन्तु जो लोग धर्मस्थान में पाप करते हैं, उनके पापों का नाश कहाँ होगा ? वह वज्रलेप होकर उनकी आत्मा को अधोगति में ले जायगा।

हाँ, सब एक सरीखी की वृत्ति वाले नहीं हैं। कोई-कोई भद्र आत्माएँ भी होती हैं। एक वार एक बाई का गहना व्याख्यान

में घुस हो गया। वह गड़बड़ मचाने लगी। व्याख्यान सुनने में विघ्न होने लगा। तब पास में बैठी हुई एक बाई ने अपने हाथ की बीस तोले का सोने का जेवर उतार कर उसे देदिया और कहा-अब शान्त हो जा। गड़बड़ मत मचा। व्याख्यान सुनने दे!

कई धर्मप्रिय लोग धर्म की बदनामी न हो, इस अभिप्राय से कुछ भी त्याग कर देने के लिए उद्यत हो जाते हैं।

तो संसार में नाना प्रकार की मनोवृत्ति वाले मनुष्य मौजूद हैं। कुछ लोग आजीवन उपदेश सुनने और दिखावटी क्रिया करने में सबसे आगे रहते हैं, किन्तु जब उनकी मनोभावना प्रकट होती है तो विदित होता है कि धर्म का लेश मात्र भी असर उन पर नहीं हुआ। वे चाहे धर्मशास्त्र सीख लें या बड़ी-बड़ी तपस्या करें, मगर उनके हृदय में सरलता, समभावना, निर्लोभता, क्षमा, आदि की वृत्तियाँ उदित नहीं होती। भीतर कषायों की ज्वाला जलती ही रहती है। ईर्षा, द्वेष क्षुद्रता, अहंकार आदि ज्यों के त्यों बने रहते हैं।

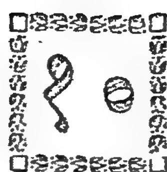
कुछ लोग अधर्मी होते हैं और अपने को अधर्मी ही समझते हैं। ऐसे लोगों का उद्धार उतना कठिन नहीं होता, क्यों कि वे अपनी स्थिति से भलीभांति परिचित हैं, पर जो अधर्मी होकर भी अपने को धर्मी समझता है, उसका उद्धार होना कठिन है। वह अपने मन को मिथ्या आश्वासन देता रहता है। ऐसे लोगों की बीमारी असाध्य सी होती है। इस प्रकार संसार में तरह-तरह के जीव हैं!

राजा प्रदेशी अधर्मी था और अपने को धर्मी नहीं समझता था! तो उसका उद्धार हो गया। उसने जान लिया कि जीव है; नित्य है, अरूपी है, अतीन्द्रिय है। और जब वह है तो अजीव नहीं

हो सकता। जिस प्रकार जीव अजीव नहीं हो सकता, उसी प्रकार अजीव जीव नहीं हो सकता। अतएव कहा गया है कि जीव को अजीव और अजीव को जीव बनाना संभव नहीं है।

इस तथ्य को समझ कर आप आत्मा का कल्याण करेंगे तो आनन्द ही आनन्द होगा।

ब्यावर
१६-११-४७



धर्म-प्रसाद



स्तुतिः—

कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं,
विभ्राजते तव वपुः कलधौतकान्तम् ।
उद्यच्छशांकशुचिनिर्झरवारिधार-
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शात कौम्यम् ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

भगवान् जब सुरविनिर्मित समवसरण में आसीन होते थे तो देवता अपनी आन्तरिक भक्ति से प्रेरित होकर उन पर श्वेत चामर ढोरते थे। तीर्थंकर भगवान् के आठ महाप्रातिहार्यों में यह भी एक महाप्रातिहार्य है। यह प्रातिहार्य सिर्फ तीर्थंकर भगवान् के

ही होते हैं, किसी अन्य आचार्य, उपाध्याय या साधु के नहीं होते। प्रातिहार्य तीर्थंकर नामकर्म के उदय का फल है।

भगवान् ऋषभदेव का शरीर तप्त स्वर्ण के समान पीत उज्ज्वल आभा से देदीप्यमान था और उस पर ढोरे जाने वाले चामर श्वेत वर्ण के थे। अतएव ऐसा दिखाई देता था कि भगवान् का शरीर तो सुमेरु पर्वत का स्वर्णमय शिखर है और उस पर ढोरे जाने वाले चामर, उदीयमान चन्द्रमा के समान निर्मल धवल झरने के जल की धारा है।

अहा ! कितना मनोहर रहा होगा वह दृश्य ! अद्भुत और अनूठा वह दृश्य जिसने देखा वही कृतार्थ हो गया। इस प्रकार की अनिर्वचनीय शोभा के परमधाम भगवान् ऋषभदेव हैं, उनको ही हमारा बार-बार नमस्कार हो।

भगवान् पर ढोरे जाने वाले चमर मानों दर्शकों को यह चेतावनी दे रहे थे कि जैसे हम नीचे नम कर ऊँचे जाते हैं, उसी प्रकार हे भव्य जीवो ! अगर तुम्हें उच्चगति मोक्ष-पाना है तो तुम भी तीन लोक के नाथ भगवान् को नमस्कार करो। जो नम्र होता है वही ऊँचा चढ़ता है। नम्रता उच्चताप्राप्ति का अनिवार्य साधन है। जो मनुष्य कुलसम्पन्न और जातिसम्पन्न होते हैं, वही विनयवान् होते हैं। जिसके अन्तःकरण में नम्रता है और जो गुणाधिकों को नमस्कार करता है, निश्चय ही वह गुणवान् बन कर अभ्युदय का भागी होता है। दुनिया की दृष्टि में भी वह ऊँचा हो जाता है। लोग उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं-अहा, उसमें कितनी नम्रता है ! कैसी मुलायमी है, रेशम का लच्छा हो समझिए। हम तो सोचते थे कि उसके आने पर हम ऐसा करेंगे, वैसा करेंगे, यों लताडेंगे और ऐसी खबर लेंगे, परन्तु वह आते ही ऐसा बोला कि

हमारा सारा क्रोध एकदम ठंडा पड़ गया, जैसे आग पर मानों पानी गिर गया हो!

नम्रता वह वशीकरण है कि दुश्मन को भी मित्र बना लेती है। पाषाणहृदय को भी पिघला देती है। देखो न, पत्थर कितना कठोर होता है। उसमें यदि नख गड़ाया जाय तो वह टूट जायगा, लेकिन पत्थर का कुछ भी नहीं बिगड़ेगा। मगर रस्सी कितनी मुलायम होती है। प्रतिदिन उसकी रगड़ लगने से पत्थर में भी खड्डे पड़ जाते हैं। वास्तव में नम्रता और कोमलता बड़ी काम की चीज़ है। वह जीवन का बढ़िया शृंगार है, आभूषण है। उससे जीवन चमक उठता है।

बहुत-से लोग समझते हैं कि हमारा बड़प्पन अकड़ में ही है। अकड़े रहने से हम बड़े समझे जाएँगे। परन्तु उनकी यह धारणा भ्रमपूर्ण है। अकड़बाज भले अपने को बड़ा समझे मगर दूसरे उसे तुच्छ और हलका समझते हैं। वह दूसरों की निगाह में गिरा हुआ होता है। इससे विपरीत, नम्र मनुष्य को दूसरे बड़ा समझते हैं।

नम्रता कभी हानिकर हो ही नहीं सकती। बाहुबली स्वामी जब तक नमे नहीं तब तक घोरतर तपश्चरण कर के भी केवलज्ञान न पा सके और हृदय में नम्रता आई कि तत्काल केवलज्ञान की सम्पत्ति के स्वामी बन गये।

नम्रता वह सद्गुण है जिसके द्वारा संसार का ऊँचे से ऊँचा पद प्राप्त किया जा सकता है। सब से ऊँचा पद तीर्थंकरपद है और वह भी विनयशील पुरुष को प्राप्त हो सकता है।

जिस शिष्य के अन्तःकरण में नम्रता होती है वही ज्ञान प्राप्त करने में कुशल होता है। शिष्य की विनम्रता से संतुष्ट और

प्रसन्न हुए गुरु अपने ज्ञान का बहुमूल्य भंडार शिष्य के समक्ष खोल कर रख देते हैं और वह उस में से चुनिंदा-चुनिंदा रत्नों का इच्छानुसार चयन कर संग्रह कर लेता है। उसे गुरु का प्रसाद और शुभाशीर्वाद प्राप्त होता है, जो उसके अभ्युदय में अतीव सहायक होता है, उसके लिए मंत्र का काम देता है।

विनयवान् जिस कार्य को करना चाहता है, उसमें उसे सफलता प्राप्त होती है। उसका कोई काम बिगड़ता नहीं। उसे आशा से भी अधिक सहायक अनायास ही मिल जाते हैं।

जम्बू स्वामी ने श्रीसुधर्मा स्वामी से जितने प्रश्न पूछे, अत्यन्त विनीत भाव से ही पूछे। जम्बू स्वामी का हम सब पर महान उपकार है। उन्होंने प्रश्न न पूछे होते तो सुधर्मा स्वामी ने उत्तर भी न दिये होते और उस स्थिति में हमें वह ज्ञान कैसे प्राप्त होता?

धर्मशास्त्र में विनय गुण का बड़ा माहात्म्य वर्णन किया गया है। विनय की प्रधानता दिखलाने के लिए साधु के समग्र आचार को विनय का ही नाम दिया गया है और स्पष्ट रूप से घोषणा की गई है कि धर्म विनयमूलक है। विनय धर्म का आधार है। जैसे जड़ के बिना वृक्ष खड़ा नहीं रह सकता, उसी प्रकार विनय के बिना धर्म नहीं टिक सकता।

श्री दशवैकालिकसूत्र में कहा है—

रायणिएसु विणयं पउंजे,
डहरा वि य जे परियायजेट्ठा।
नीअत्तणे वट्टइ सच्चवाई,
ओवायवं वक्ककरे स पुज्जो॥

साधु को चाहिए कि वह रत्नाधिकों के प्रति अर्थात् जो अपने से अधिक ज्ञानवान् और संयमवान् हो उनके प्रति, विनय का व्यवहार करे। जो साधु उम्र में छोटे हों परन्तु दीक्षापर्याय में ज्येष्ठ हों, उनके प्रति भी विनय का प्रयोग करना चाहिए। जो अपने गुरुजनों के प्रति विनयपूर्ण व्यवहार करता है, उनकी उपासना करता है और असत्य भाषण नहीं करता, वह पूजनीय है!

इस आगमवाक्य से स्पष्ट है कि पूजनीय बनने के लिए विनम्रता धारण करने की आवश्यकता है। विनय के अभाव में अन्य सद्गुण प्रथम तो होते ही नहीं, कदाचित हों तो शोभा नहीं पाते। जैसे नमक के बिना भोजन फीका होता है, उसी प्रकार विनय के बिना सभी सद्गुण फीके रहते हैं। यही नहीं, बहुत बार तो यही देखा जाता है कि विनय का अभाव सद्गुणों को भी दुर्गुण बना देता है।

शास्त्रज्ञान प्राप्त करने के लिए भी विनम्रता की आवश्यकता है। विनीत होकर ही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। आज हमारे सामने जो श्रुत है, वह सुधर्मा स्वामी और जम्बू स्वामी आदि महापुरुषों की विनम्रता का ही फल है। उसी श्रुत का इस समय व्याख्यान चल रहा है। आपको बतलाया जा चुका है कि भगवान् महावीर स्वामी ने गौतम स्वामी से कहा कि-दुनिया में छह बातें करने में कोई समर्थ नहीं है। उनमें पहली बात है जीव को अजीव बनाना और दूसरी बात है अजीव को जीव बनाना।

जीव को अजीव और अजीव को जीव बनाने की क्षमता किसी में नहीं है। कोई अवतार या परमात्मा भी ऐसा नहीं कर सकता।

तीसरी बात है—'एगे समए णं दो भासाओ भासित्तए।' अर्थात् एक समय में दो भाषाएँ बोलने में भी कोई समर्थ नहीं है।

क्या आप एक साथ दो भाषाएँ बोल सकते हैं ? एक के बाद दूसरी भाषा तो बोली जा सकती है, परन्तु एक साथ दो भाषाओं का प्रयोग असंभव है। कोई कितना ही जल्दी क्यों न बोले, तथापि एक के बाद ही दूसरा शब्द बोल सकेगा। तीर्थंकर हो, चक्रवर्त्ती हो या वासुदेव, बलदेव हो, वह भी एक के पश्चात ही दूसरा शब्द प्रयोग कर सकता है। आज के वैज्ञानिक चाहे जितना आगे बढ़ गये हों भौतिक विज्ञान में, तथापि वे भी ऐसी कोई विधि नहीं निकाल सके और न निकाल सकेंगे कि एक साथ दो भाषाएँ बोली जा सके। इस जगह किसी का घमंड नहीं चल सकता। कोई अपनी ताकत का कितना ही अभिमान करे, पर यहाँ किसी की ताकत काम न आएगी। इस विषय में कोई मंत्र, यंत्र, जादू या टोना कारगर नहीं हो सकता।

हाँ, यह बात अलग है कि एक समय बोले हुए एक शब्द के अर्थ अनेक किये जाएँ और ऐसा होता भी है, परन्तु एक साथ बोला जायगा एक ही शब्द।

एक पुरुष की तीन पत्नियाँ थी। वह तीनों को लेकर वन-खंड में गया। वह पुरुष अनार्य था। जंगल में पहुँचने पर एक स्त्री ने कहा—'मुझे भूख लगी है।'

इतने में दूसरी बोली—'मुझे तो प्यास लगी है।'

तीसरी भी बोल पड़ी- मुझे गाना सुनने की इच्छा हो रही है।

भाइयो ! एक ही स्त्री की फर्माइश पूरा करना कठिन होता है तो जहाँ तीन इकट्ठी हो जाएँ वहाँ क्या कहना है ? वहाँ तो भगवान् ही मालिक समझिए !

मगर वह पुरुष बड़ा चतुर था। एक ही शब्द कह कर तीनों का समाधान कर देता था। इस समय भी उसने ऐसा ही किया। कहा— सर नहीं।'

उसके यह कहते ही तीनों स्त्रियों को उत्तर मिल गया। किस प्रकार ?

'सर' का एक अर्थ होता है तीर। प्रथम स्त्री ने खाने के लिए कोई जानवर मारकर लाने की इच्छा प्रकट की थी, परन्तु 'सर नहीं' कहने से वह समझ गई कि तीर नहीं है, अतएव जानवर मारकर नहीं लाया जा सकता।

'सर' का दूसरा अर्थ है तालाब। दूसरी स्त्री ने प्यास की बाधा बतलाकर पानी लाने की इच्छा प्रकट की थी, परन्तु पुरुष ने जब कहा कि 'सर नहीं है' तो वह समझ गई कि तालाब के बिना इस जंगल में पानी नहीं मिल सकता।

'सर' का प्राकृत भाषा में तीसरा अर्थ होता है स्वर। तीसरी पत्नी ने गाना सुनने की इच्छा प्रदर्शित की थी, परन्तु पुरुष ने उसका भी उसी वाक्य से उत्तर दे दिया कि स्वर नहीं तो गाना कैसे गाया जा सकता है ?

यह उत्तर सुनकर तीनों पत्नियों का समाधान हो गया, इस प्रकार एक शब्द के अर्थ तो अनेक हो सकते हैं किन्तु अनेक शब्द एक साथ बोले नहीं जा सकते।

शब्द की बात चली है तो यह भी देख लेना चाहिए कि शब्द क्या चीज है ?

कुछ दर्शनशास्त्रियों का कहना है कि शब्द आकाश का गुण है। किन्तु विचार करने पर यह मत युक्तिसंगत नहीं ठहरता।

आकाश अरूपी है, अमूर्त है, यह जैसे हमारी मान्यता है, उसी प्रकार उनकी भी है। वे भी आकाश को अरूपी ही स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में प्रश्न उपस्थित होता है कि अरूपी का गुण रूपी कैसे हो गया ? इन्द्रियगम्य होने से शब्द रूपी है, यह निश्चित है। जैसी वस्तु होती है वैसा ही उसका गुण होता है। और जैसा गुण होता है उसी के अनुसार उसका आधारभूत द्रव्य माना जाता है। तात्पर्य यह है कि गुण और गुणी में अनुरूपता होती है। अनुरूपता के अभाव में गुणगुणीपन नहीं बन सकता। विसदृश में गुण गुणी की कल्पना की जाय तो पदार्थव्यवस्था का सारा आधार ही डांवाडोल हो जायगा। चैतन्य को भूतों का गुण मानने वाले नास्तिकों को क्या उत्तर दिया जायगा ? कठोरता को पृथ्वी का गुण न मानकर जल का गुण और शीतलता को अग्नि का गुण मानने वाले को कौन रोक सकेगा ? इस प्रकार गुण गुणी में समानरूपता मानना अनिवार्य है।

इस मूलभूत सिद्धान्त के आधार पर शब्द और आकाश के गुण-गुणी भाव पर जब विचार करते हैं तो उसकी सिद्धि नहीं होती, क्योंकि दोनों में बड़ी विरूपता है। एक मूर्त्त है तो दूसरा अमूर्त्त है।

शब्द के मूर्त्त होने का प्रमाण यह है कि वह पकड़ में आता है। अगर वह मूर्त्त न होता तो श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण भी न किया जाता। जितनी भी इन्द्रियाँ है, सब रूपी-मूर्त्त पदार्थों को ही ग्रहण करती हैं। आत्मा आदि अमूर्त्त पदार्थ इन्द्रियों द्वारा गृहीत नहीं होते।

इस प्रकार शब्द का मूर्त्तिक होना सिद्ध है और जब वह मूर्त्तिक है तो अमूर्त्त आकाश का गुण नहीं हो सकता।

वास्तव में शब्द पुद्गल है। पुद्गलों में अनेक जातियाँ होती हैं। उनमें से एक जाति भाषा वर्गणा भी है। इन भाषावर्गणाओं से ही शब्द रूप पर्याय की उत्पत्ति होती है। कभी-कभी तीव्रतर शब्द से कानों के पर्दे फट जाते हैं और यहाँ तक सुना गया है कि गर्भिणी स्त्रियों के गर्भ भी गिर जाते हैं। इस प्रकार आघात पहुंचाने का काम पुद्गल ही कर सकता है। किसी भी अमूर्त्त पदार्थ में ऐसी शक्ति नहीं है।

शब्द भाषा स्वरूप है और भाषा चौस्पर्शी ! कर्म वर्गणा भी चौस्पर्शी है। कर्म और भाषा को कोई पकड़ नहीं सकता, क्योंकि यह अगुरुलघु हैं। मगर उच्चारण होते ही वह आठस्पर्शी हो जाती है। भाषा के पुद्गल जो बाहर निकलते हैं, आठस्पर्शी हो जाते हैं। अतएव उघाड़े मुँह बोलना निषिद्ध है। इससे वायुकाय के जीवों की हिंसा होती है। कहा है—

उघाड़े मुंह बोल्या लागे मोटो पाप।

अतएव खुले मुँह नहीं बोलना चाहिए। मुंहपत्ति या कपड़ा लगावे या कुछ भी करे, मगर खुले मुंह कभी न बोले। मुँहपत्ती मुँह पर बँध जाती है तो तीन गुण उत्पन्न होते हैं। यथा—

मुंहपत्ती में तीन गुण, जैन लिंग जीव रक्ष।
थूंक पड़े नहीं सुत्तर पैं, तीन गुण प्रत्यक्ष॥

सरकारी चपरासी होता है तो उसकी चपरास से मालूम हो जाता है कि यह सरकारी चपरासी है। इसी प्रकार मुंहपत्ती बाँधने से मालूम हो जाता है कि यह जैन साधु है। कई लोग कहते हैं कि साधु जब अपने स्थान पर रहे तो मुँहपत्ती रक्खे,

किन्तु जब बाहर जावे तो खोल दे। इसी प्रकार जब मौन धारण करे तो मुंहपत्ती की आवश्यकता नहीं होती। उस समय यदि खोल कर अलग रख दे तो क्या हानि है ? मगर याद रखना चाहिए कि अन्य कोई हानि हो, अथवा न हो, चिह्न तो बिगड़ जाता है।

कहा जा सकता है कि टोपी उतार कर नीचे रख दे तो क्या हर्ज है ? लेकिन टोपी लगाने में शान है।

कई साधु हाथ में मुंहपत्ती रखते हैं। उनसे पूछा जाय तो वे भी यही कहते हैं कि उघाड़े मुंह बोलने से पाप होता है। जब उघाड़े मुंह बोलने से पाप होता है तो मुंहपत्ती मुंह पर बाँधना ही योग्य है; क्योंकि हाथ में रखने से कई बार ध्यान नहीं रहता और बिना ही मुंहपत्ती के बोल दिया जाता है।

जो चीज़ जहाँ शोभा देती हो, वहीं उसका होना उचित है। तुम्हारी नाक यहाँ की जगह अन्यत्र लगा दी जाय तो क्या होगा ? एक आँख कहीं दूसरी जगह लग जाय तो इसमें भी क्या है ? जूते पैरों में न पहन कर हाथों में पहन ले तो क्या हो ? मगर वे पैरों में पहने जाएँगे तभी बिच्छू, कांटे आदि से रक्षा कर सकेंगे। मुंहपत्ती मुंह पर ही बाँधी जानी चाहिए। अगर वह हाथ में रक्खी जायगी तो हाथपत्ती कहलाएगी, मुँहपत्ती नहीं कहला सकती।

आपका भी यही कर्त्तव्य है कि कभी खुले मुंह न बोलें। कम से कम साधुओं के पास जाओ तब तो नहीं ही बोलना चाहिए। पहले के श्रावक भगवान् का उपदेश सुनने को जाते थे तो उत्तरासंग करके जाते थे। मगर आज तो खुले मुंह बोला जाता है। धर्म के स्थान पर जाकर भी धर्म का चिह्न न रखना

बहुत बुरी बात है। श्रावक जाएगा तो मुंहपत्ती, बैठका और पूंजणी जरूर रक्खेगा।

क्षत्रिय कौन ? जिसके हाथ में तलवार हो। एक बार आमेट के रावजी महाराणा फतहसिंहजी के पास मुजरा करने गये। उन्होंने एक हाथ से मुजरा किया। तब महाराणा ने ऐसा करने का कारण पूछा। रावजी ने कहा-महाराणा साहब, यदि तलवार रख दूं तो क्षत्रियत्व चला जाय, क्योंकि तलवार क्षत्रिय का चिह्न है।

इसी प्रकार श्रावक के पास उसका चिह्न मुंहपत्ती, बैठका आदि होना चाहिए।

मुसलमान अपने धर्म में कितने पक्के होते हैं ? रेल में सफर कर रहे हों और नमाज पढ़ने का वक्त आ जाय तो फौरन नमाज पढ़ने बैठ जाते हैं। उनकी जैसी नियमितता आपमें है क्या ?

भाइयो ! आपको विचार करना चाहिए। आपको कितना उत्तम धर्म मिला है ? अरिहंत सरीखे उत्तम देव मिले हैं। गांजा न पीने वाले, पैसा न रखने वाले और स्त्री को न छूने वाले तथा महाव्रतों का पालन करने वाले गुरु मिले हैं। इस प्रकार उत्तम धर्म, देव और गुरु को पाकर भी यदि आपने धर्म का आचरण न किया और आत्मा का कल्याण न किया तो आप अपूर्व सुयोग को गँवा देंगे।

आपको सदैव सावचेत रहना चाहिए और कभी मिथ्या-त्वियों के चाले नहीं लगना चाहिए। सत्य मार्ग पर ही चलना चाहिए। कदाचित मिथ्यात्वी के चाले लग गये हो तो फिर मौका पाकर सत्य मार्ग को पकड़ लेना चाहिए।

दो आदमी परदेशयात्रा के लिए घर से निकले। दोनों मित्र थे। मगर लौटते समय आपस में मन मुटाव हो गया। उनमें से एक अपना सामान लेकर घर आ गया। दूसरे की स्त्री को पता चला तो उसने उसके घर जाकर पूछा-वे क्यों नहीं आये ? उस आदमी ने कह दिया-पूछो मत। उसने तो अपनी बात कर दिखाई।

बात कहने का उसका ढंग कुछ ऐसा था कि स्त्री ने समझ लिया-मेरा पति मर गया है। वह अपने घर आकर और छाती कूट-कूट कर रोने लगी। इसके सिवाय उसके पास और जोर ही क्या था ? उसे रोती देख उसके बाल बच्चे भी रोने लगे।

अड़ौस-पड़ौस की औरतें आईं। उन्होंने उसे समझाने का प्रयत्न किया। कहा-जो होनी थी सो हो गई। अब रोना-धोना व्यर्थ है।

तीसरे दिन उसकी चूड़ियाँ भी ठिकाने लगा दी गई। उसके जाति वाले इकट्ठे हुए और एक ने कहा-वह परदेश गया था और मर गया है तो उसके बालबच्चों का प्रबंध होना चाहिए। अगर बालबच्चों ने दुःख पाया तो हमने इसके जाति के होकर क्या किया ? आज एक परिवार पर यह मुसीबत आई है; कल किसी दूसरे पर भी आ सकती है। इसका क्या ठिकाना है! यह जाति का काम है! अगर ठीक व्यवस्था न की तो बात चली जायगी।

आखिर जाति वालों की तरफ से उसकी मासिक वृत्ति की व्यवस्था कर दी गई। छह महीने गुजर गये। न वह आया और न उसका समाचार आया। परन्तु भाग्य उसका अनुकूल चल रहा था। उसने पन्द्रह-बीस लाख रुपये कमा लिये। इतनी कमाई होने पर सब पूंजी समेट कर घर आया। शाम को जब गाँव के बाहर पहुँचा तो उसे गांव का एक परिचित मनुष्य मिला। उससे उसने

कहा—'जुहारु साहब !' यह शब्द सुन कर और जुहारु करने वाले की सूरत देख कर उसके हृदय में इतना भय उत्पन्न हुआ कि वह लोटा फैंक कर गांव की ओर भागा। उसने सोचा—भूत आ गया है !

बेचारा आगन्तुक इस भय का कारण नहीं समझ सका। आश्चर्ययुक्त होकर आगे बढ़ा और गांव में पहुँचा। उसने यथोचित अभिवादन किया तो सभी लोग आश्चर्यभरी दृष्टि से उसकी तरफ देखने लगे। एक ने साहस करके पूछा—आपके साथी तो बहुत पहले आ गये थे और आप कहां अटके रहे ? उसने कहा—व्यापार संबंधी काम-काज की अधिकता के कारण मैं इससे पहले नहीं निकल सका। सब काम से निपट कर अब आ सका।

उसी समय दो-चार भले आदमियों ने जल्दी जाकर उसकी पत्नी से कहा—तुम्हारे पति परदेश से आ गये हैं। जल्दी चूड़ा पहन लो।

मगर स्त्री ने समझा कि यह लोग मेरी हँसी करने आये हैं। अतएव उसने चिढ़ कर कुछ अंटसंट बातें कह दीं। तब उन्होंने पुरा पड़ौस की औरतों से उसे समझा देने के लिए कहा। वे समझाने गईं तो उसने उन्हें भी गालियां देना शुरु किया। इसी समय स्वयं पतिदेव घर पर आ पहुँचे। जब उन्होंने अपनी पत्नी को विधवावेष में देखा तो पूछा—यह क्या स्वांग बना रक्खा है ?

पत्नी बोली—आपके मित्र ने आकर ऐसे ही समाचार सुनाये थे।

पुरुष ने कहा—उससे हमारा मनमुटाव हो गया, इस कारण उसने ऐसा कह दिया होगा। यह उसकी हद दर्जे की नीचता है। खैर, मैं आ गया हूँ। नया चूड़ा पहन लो और गोटे का घाघरा-ओढ़ना पहन-ओढ़ लो।

स्त्री बोली—बड़ी मुश्किल से रो-रो कर एक बार यह वेष धारण किया था। अब आप उतार देने को कहते हैं। आखिर तो एक न एक दिन आप मरोगे ही, तब मुझे फिर वही माथाकूट करनी पड़ेगी। बार-बार मुझसे यह मुसीबत नहीं झेली जायगी।

पुरुष ने कहा—देख, सोच ले। तू इसी वेष में रहना चाहती हो तो रह। मैं दूसरा विवाह कर लूँगा।

भाइयो, आप उस स्त्री को क्या समझेंगे? वह मूर्ख है या नहीं? साक्षात् पति के आ जाने पर भी वह अपनी टेक नहीं छोड़ती। इसी प्रकार पंच महाव्रतधारी साधु के आने पर भी जो गृहस्थ अपना मिथ्यात्व नहीं छोड़ते, उन्हें क्या कहा जाय? क्या वे भी उस औरत की तरह मूर्ख नहीं है।

मिथ्यात्व का त्याग न करने वाला जीव उस स्त्री के समान जीवन पर्यन्त दुखी रहेगा। मिथ्यात्व को त्यागने का यह सुन्दर अवसर है। इस समय मिथ्यात्व को त्याग कर जीवन को सफल न बनाओगे तो फिर ऐसा अवसर मिलना अत्यन्त कठिन होगा। देव अरिहन्त मिल गये, गुरु निर्ग्रन्थ मिल गये और धर्म दयामय मिल गया तो फिर क्यों ढील करते हो? इस अमूल्य अवसर को क्यों गँवा रहे हो?

जगत में जैनधर्म है सार,
करे आराधन जैनधर्म, तो निश्चय हो उद्धार।

भाइयो! जगत में दयामय धर्म ही सारभूत वस्तु है। समझ में न आया हो तो समझ लो, पूछ लो और परख लो और फिर उस पर दृढ़ आस्था करो। उसके आदेशों का पालन करो।

जैनधर्म को जो कोई धारे, राग-द्वेष परिहार।
उस प्राणी का भवसागर से, होगा बेड़ा पार॥

जिसने राग-द्वेष आदि विकार–रिपुओं को जीत लिया हो उसे 'जिन' कहते हैं और 'जिन' के पथ का अनुसरण करने वाले तथा जिन को देव मानने वाले जैन कहलाते हैं। जिसने राग-द्वेष को जीत लिया है, ऊपर से वह किसी भी वेष में हो और किसी भी पंथ का कहलाता हो, वास्तव में उसी की 'जिन' संज्ञा है। जिनधर्म निजधर्म है, आत्मा का स्वभाव है। भावशुद्धि प्राप्त करने वाले का बेड़ा पार हो जाता है। जिसका चित्त निर्मल है, कषायों की कलुषता से रहित है, समभाव से युक्त है, तृष्णा, लोलुपता और गृद्धि से रहित है, जिसमें दया, क्षमा आदि सात्विक भावों की प्रबलता है, जो संयमशील है और स्वाध्याय तथा ध्यान आदि में तत्पर रहता है, उसकी आत्मा निर्मल हो जाती है और वह कल्याण का भागी होता है।

जैनधर्म किसी भी प्रकार के आडम्बर का समर्थन नहीं करता। वह आन्तरिक शुद्धि पर जोर देता है और बतलाता है कि जैसे–जैसे आपकी भावना और आचरण की पवित्रता बढ़ती जायगी, आपकी आत्मा की उन्नति होती जायगी।

जैनधर्म का स्वरूप इतना सार्वजनिक और व्यापक है कि उसमें किसी को मतभेद या विवाद नहीं हो सकता। 'धम्मो मंगल-मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो' अर्थात् अहिंसा, संयम और तपश्चरण यह त्रिमूर्त्ति धर्म ही उत्कृष्ट मंगल रूप है। यह जैनधर्म की परिभाषा है। क्या कोई भी विचारशील व्यक्ति इससे असहमत हो सकता है? कोई भी नहीं कह सकता कि हिंसा धर्म है, असंयम

धर्म है और भोगविलास धर्म है। ऐसे सीधे-सादे सरल और स्वाभाविक धर्म को, जो इह-परभव में परम आनन्द देने वाला है, पाकर भी यदि आप अपने जीवन को सफल न बनाएँ तो यह आपका ही दुर्भाग्य होगा।

हम आपका पथप्रदर्शन करते हैं, पर बदले में चाहते क्या हैं ? हमारी कोई आवश्यकताएँ हों ऐसा नहीं कि जिनकी पूर्त्ति के लिए आपको विचार करना पड़े। हमारे पास कोई मठ नहीं, मकान नहीं, परिवार नहीं। हमें पास में कुछ रखना नहीं। धातु मात्र को रखते नहीं। हाँ, कई घरों से संयमनिर्वाह के हेतु रोटियाँ अलबत्ता ले लेते हैं और तन ढँकने को वस्त्र। ऐसे निर्लोभ गुरु आपको कोई गलत रास्ता नहीं बतलाएँगे। जैनधर्म किसी साधारण ऋषि-मुनि ने नहीं चलाया है। वीतराग और सर्वज्ञ ने इसका उपदेश दिया है। फिर भी आप मिथ्यात्व का त्याग न करके इस सद्धर्म को धारण न करें तो किसका दोष ?

अगर अपनी जीवन-नैया को पार लगाना चाहते हो, अगर मोक्ष रूपी महानगरी में स्थायी निवास करना चाहते हो और यदि नाना प्रकार के दुःखों से परिपूर्ण योनियों में भटकने से बचना चाहते हो तो रागद्वेष को जीतो और जिनधर्म को धारण करो।

पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्रजी, किया धर्म प्रचार।
कइयों को संयम दिलवाया, होंगे धर्म अवतार॥

अहा, कैसे-कैसे धर्माराधक, कैसे धर्मप्रेमी और कैसे-कैसे धर्मदलाल भूतकाल में इस भारतभूमि पर हो चुके हैं !

थावर्चाकुमार सेठ के लड़के थे। अपनी बत्तीस स्त्रियों का त्याग करके साधु बन रहे थे। श्रीकृष्णजी ने उनसे पूछा-क्यों साधु बन रहे हो ? कोई दुःख हो तो कहो, मैं मिटा दूंगा।

थावर्चाकुमार बोले--जी हाँ, मुझे बड़ा दुःख है। जन्म, मरण और जरा से बड़ा भय लगता है। यह दुःख आप दूर कर दें तो साधु बनने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

श्रीकृष्ण बोले—भाई, यह शक्ति तो मुझमें नहीं है। आप खुशी से दीक्षा लीजिए।

तत्पश्चात कृष्णजी ने नगर में घोषणा करवा दी कि थावर्चापुत्र संयम ग्रहण कर रहे हैं। जो उनके साथ प्रव्रज्या लेना चाहे, प्रसन्नता पूर्वक निश्चिन्त भाव से ले सकता है। उनके पीछे जिनके बाप न होगा उनका बाप, जिनकी माँ न होगी उनकी माँ और जिनके बेटा न होगा उनका बेटा मैं बनूँगा।

कृष्णजी की इस घोषणा को सुनकर थावर्चाकुमार के साथ दीक्षा ग्रहण करने के लिए एक हजार पुरुष तैयार हुए। उन्होंने संयम धारण करके स्व-पर का कल्याण किया।

इस उत्कृष्ट धर्मदलाली के प्रभाव से कृष्णजी अगले काल में बारहवें तीर्थंकर होंगे। आप भी कृष्ण महाराज जैसी धर्म-दलाली करना सीखो।

सुख सम्पत्ति जो कुछ भी पाया, पूर्व धर्म उपकार।
करता जो अपमान धर्म का, सो कृतघ्न नर-नार॥

भाइयो! इस समय तुम जो हजारपति, लखपति, करोड़पति, सुन्दर, स्वस्थ और सुखी बने हो और आराम से दोनों समय भोजन करते हो, यह किसका प्रताप है? सेठ-साहूकार कहलाते हो और गद्दा-तकिया का सहारा लेकर बैठते हो और मोटरों में घूमते फिरते हो, यह किसकी कृपा का फल है? यह आलीशान हवेलियाँ

किसके प्रताप से मिली है ? बहुतों को जो आराम की सामग्री नहीं मिली, वह तुम्हें कैसे मिल गई ? यह सब पूर्वकाल में आचरित धर्म का ही फल है। धर्म करके नहीं आये होते तो ठीकरा लेकर गलियों में भटकते फिरते और कहते--'बावजी, रोटी दो, भूखा मर रहा हूँ।'

लखपति और कंगले में फर्क क्या है ? एक ने धर्म किया है और दूसरे ने नहीं किया है।

जिस धर्म के प्रभाव से आज सब प्रकार से सुखी बना है, आज उसी को जो भूल रहा है, उसे कितना कृतघ्न कहना चाहिए ? कोई कहता है--चलिए साहब, धर्मोपदेश सुन आवें और सन्तों की उपासना कर आवें। तब साहब कहते हैं--'भई, हमसे यह सब झंझट नहीं होता।' यह कह कर आज धर्म से मुँह फेर रहा है ! याद रखना, यही हाल रहा तो फिर यही कहना पड़ेगा--'बावजी, रोटी दो।'

जिस धर्म ने तुझे ऊँचा उठाया, सुखी बनाया, स्वस्थ बनाया और सब प्रकार से योग्य बनाया, उसकी ही आज उपेक्षा करता है ? उसके प्रति अनादर का भाव प्रकट करता है ? अरे भाई, यह मनुष्यजन्म भी तो उसी धर्म के प्रभाव से मिला है। धर्म न किया होता तो न जाने किस नरक या तिर्यंच योनि में पड़ता।

पूर्व जन्म में जिसने धर्म नहीं किया उसे केसरिया भात, मिस्री मावा वगैरह कैसे मिल सकते हैं ? ग्वालबाल संगम ने खीर का उदारतापूर्ण दान न दिया होता तो क्या वह शालिभद्र बन सकता था ? कदापि नहीं। तो निश्चय कर लो कि आज तुम्हें जो भी इष्ट सुखद और श्रेष्ठ सामग्री मिली है, वह सब धर्म की ही देन है। अतएव धर्म का आपके ऊपर अनन्त उपकार है। धर्म के प्रति

कृतज्ञता प्रकट करने के लिए उसकी आराधना करो, उसके प्रति बहुमान का भाव रक्खो। इससे पुनः आपको सुख ही मिलेगा। आपका भावी उज्ज्वल बनेगा। धर्म के अतिरिक्त परलोक में कोई दूसरा आपकी सहायता नहीं करेगा। ज्ञानी कहते हैं—

धर्म एव हतो हन्ति,
धर्मो रक्षति रक्षितः।

जो धर्म का विनाश करता है वह अपने ही विनाश को आमंत्रित करता है और जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है।

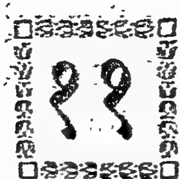
चौथमल कहे जैनधर्म ने, अनन्त जीव दिये तार।
जैनधर्म बिन किये आराधन, जी भटके संसार॥

भाइयो! इस धर्म में परिमित जीवों को ही नहीं, अनन्त जीवों को तारने की शक्ति है। धर्म की शक्ति का कहीं और कभी भी विराम नहीं है। अनादि काल से लेकर आज पर्यन्त जितने भी तीर्थंकर बने हैं, सब इसी धर्म के प्रताप से बने हैं यही धर्म सबके अभ्युदय का कारण है। इसी के प्रताप से जीवों को सब प्रकार की अनुकूल सामग्री प्राप्त होती है। आप सुन्दर पोशाक पहन कर और गले में कंठा डाल कर बाजार में निकलते हो तो लोग खड़े होकर आपका स्वागत करते हैं और कहते हैं--पधारो साहब! यहाँ 'पधारो साहब' करवाने वाला कौन है? यह धर्म का ही महान् उपकार है।

कोई कह सकता है कि धर्म यदि इतना उपकारक है तो बिना आराधन किये उपकार क्यों नहीं करता? इसका उत्तर यह है कि डाक्टर की बतलाई हुई दवा कितनी ही उत्तम क्यों न हो,

अमोघ ही क्यों न हो, मगर दुकानदार की दुकान में पड़ी--पड़ी आपका रोग नष्ट नहीं करेगी। उससे आपको लाभ न होगा। सेवन करके ही उससे लाभ उठाया जा सकता है। इसी प्रकार धर्म का सेवन किये बिना सुफल की प्राप्ति नहीं हो सकती। ऐसा जान कर आप धर्म का सेवन करेंगे और तत्त्व पर श्रद्धा रक्खेंगे तो आपको आनन्द ही आनन्द की प्राप्ति होगी।

ब्यावर
२०-११-४७



मक्खी नहीं, भ्रमर बनो



स्तुति:—

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै—
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश।
दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

आचार्य मानतुंगजी ने भगवान् आदिनाथजी की बहुत ही सुन्दर रीति से, अनूठे ढंग से, स्तुति की है। वे कहते हैं--दुनिया में दो वस्तुएँ हैं-सद्गुण और दुर्गुण। दोनों परस्पर विरोधी हैं। सद्गुण, दुर्गुण को सहन नहीं करते और दुर्गुण, सद्गुणों की

सत्ता को बर्दाश्त नहीं करते। जब भगवान् ऋषभदेव में अनन्त सद्गुण इकट्ठे हो गये और दुर्गुणों को कहीं रहने की जगह ही न रही तो दुर्गुणों का अभिमान जाग उठा। भगवान् ऋषभदेव ने इतने सद्गुण ही सद्गुण इकट्ठे कर लिये कि हमें रहने के लिए थोड़ी-सी भी जगह न रहने दी। जब वे हमें नहीं चाहते तो हम भी उन्हें नहीं चाहते। हम भी उन्हें देखना पसंद नहीं करते। दुनिया में अकेले ऋषभदेवजी ही नहीं, अनन्तानन्त जीव है। कई जगह तो हमारा ही शासन है, हमारा ही बोलबाला है, हमारी ही पूजा होती है। हमारे उपासकों और आराधकों की कमी नहीं है! आदर के साथ हमें रखने वाले बहुत हैं।

भाइयो! दुर्गुणों का आदर करने वाला कौन नहीं है? जितने दुनियाँ में पाप हैं, वे सब दुर्गुण हैं और जितनी धर्म की बातें हैं, सब सद्गुण हैं। आज अधिकांश लोग दुर्गुणों के ही पुजारी हैं। सद्गुणों के उपासक तो इनेगिने विरले ही मिलेंगे।

दुर्गुण कहते हैं—इस धर्म को पूछने वाले हैं ही कितने? कुछ भूले भटके लोग धर्म का पालन करते हों तो भले ही करते हों, अन्यथा हम किसी को अपने गिरोह में से निकलने ही नहीं देते।

हम बड़े-बड़े चक्रवर्तियों के गले के हार हैं। बड़े-बड़े लोग, जो समाज में प्रतिष्ठा के पात्र समझे जाते हैं, हमारी कद्र करते हैं। तिलक और छापा लगाने वाले ऊपर से चाहे किसी के भक्त हों, हृदय में हमारी ही भक्ति करते हैं। ऐसी स्थिति में अकेले ऋषभ यदि हमारा अनादर करते हैं और हमें अपने निकट भी नहीं फटकने देते तो हमें भी उनकी परवाह नहीं है।

इस प्रकार अभिमान में आकर दोषों ने स्वप्न में भी जिन ऋषभदेव भगवान् की ओर दृष्टि नहीं डाली, उन्हीं को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

भाइयो ! यह अच्छी बात ही हुई। दुर्गुणों का नाराज होकर विमुख होना ही अच्छा है। वास्तव में तो जीव को सुखी बनाने वाले सद्गुण ही हैं। दुर्गुणों के दूर रहने से भगवान् एकान्ततः सद्गुणों के धाम बन गये। इसी कारण वे परमात्मपद को प्राप्त हुए और हमारे परमाराध्य बन गये।

वास्तव में सद्गुणों का होना और दुर्गुणों का न होना बहुत कठिन बात है। कोई आदमी धर्मध्यान करता है, धर्मशास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करता है, पढ़ाई करके उच्च दर्जे पर पहुँच जाता है, परन्तु उसमें सद्गुणों का होना और दुर्गुण न होना फिर भी कठिन होता है। पढ़े-लिखे विद्वानों के दिल में अभिमान आ जाता है। यद्यपि ज्ञान गुण है और उससे दोषों का निवारण होना चाहिए, मगर बात उलटी हो जाती है। वह गुण अभिमान रूप दुर्गुण को उत्पन्न कर देता है।

पुण्य का उदय हुआ और लाखों की सम्पत्ति मिल गई। पर दुर्गुण आकर खड़ा हो गया, अर्थात् उसमें कंजूसी आगई, अभिमान आ गया और धनमद के कारण अन्यान्य बुराइयाँ उत्पन्न हो गईं।

किसी में त्याग का गुण आया। वह तपस्या करने लगा। परन्तु क्रोध ने आकर उसकी अन्तरात्मा पर अड्डा जमा लिया।

इस प्रकार दोषों से छुटकारा पाना बड़ा कठिन होता है। इस जीव को अनादिकाल से ऐसी आदत पड़ गई है कि वह दोषों की ओर स्वतः आकर्षित होता है और गुणों की ओर बड़ी कठिनता से बढ़ता है।

दोषों का नाश होना भी बड़ा कठिन है। आश्चर्य की बात है कि गुण जल्दी नष्ट हो जाते हैं, पर दोषों का नाश करने के

लिए बहुत प्रयत्न करना पड़ता है। मनुष्य का सुयश फैलने में कितना समय लगता है! मगर बदनामी होते देर नहीं लगती। अपकीर्त्ति की चाल बहुत तेज होती है। वह पवन के वेग को भी मात करती है। कहा है—

भला करतां लागे विलंब, विलँब न बुरे विचार।
भवन बनावत दिन लगें, ढाहत लगे न वार॥

भलाई के विचार बड़ी कठिनाई से आते हैं, लेकिन बुरे विचार आने में देर नहीं लगती। महल बनाने में वर्ष के वर्ष बीत जाते हैं, मगर गिराने में क्या देर लगती है!

इसी प्रकार मोक्ष में जाने के लिए बड़ी तपस्या करनी पड़ती है, परन्तु नरक में जाने के लिए कुछ भी कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं। झूठ बोलो, चोरी करो, दुराचार का सेवन करो और धर्म-कर्म को भूल कर भोगविलास में मगन रहो, बस नरक में जा पहुँचे समझो! इसमें दिक्कत क्या और परेशानी क्या! जरा-सा उलटा रास्ता पकड़ लिया कि सारे गुण कपूर की तरह उड़ गये।

लोग कहते हैं—यह आदमी बड़ा अच्छा है, बहुत ही लायक है। पर लायक बनने में कितना अर्सा लगता है? और जरा-सा चोरी कर ली, रास्ते जाती किसी औरत को छेड़ दिया या रिश्वत में पकड़ा गया कि इतने दिनों की मिहनत पर पानी फिर गया। सब किया-कराया मिट्टी में मिल गया। क्या देर लगी? बुराई में कुछ ऐसी बदबू होती है कि लाख प्रयत्न करने पर भी उसे छिपाया नहीं जा सकता।

जन्म-जन्मान्तर में यह तरीका अपनाया कि मोक्ष जाने के दलिया इकट्ठे किये और यदि विपरीत प्ररूपणा कर दी तो सब

धूल में मिल गया। सम्पत्ति का संचय करने में बहुत समय लगता है, मगर उसे उड़ाने में क्या देर लगती है ?

जो अत्यन्त पुण्यशाली होता है, वही यह सौभाग्य प्राप्त कर सकता है कि उसमें गुण ही गुण हों और दुर्गुण न हों। भगवान् तीव्रतम पुण्योपार्जन करके आये हैं तो दुर्गुण उनसे दूर ही रहते हैं।

अधिकांश लोगों में यह जघन्य मनोवृत्ति देखी जाती है कि वे अपने दोष देखने के बदले दूसरों के दोष देखा करते हैं। परन्तु इससे उन्हें लाभ तो कुछ हो नहीं सकता, उलटी हानि होती है। दूसरे के दोष देखते-देखते वे स्वयं दोषों के भंडार बन जाते हैं। इससे उनमें अगर कोई गुण विद्यमान हुए तो वे भी लुप्त हो जाते हैं। अतएव जिसे गुणी बनना हो उसे चाहिए कि वह दूसरे के अवगुणों की तरफ ध्यान न दे, वरन् उन अवगुणों के साथ मौजूद गुण को ही देखे। संसार में ऐसा कोई व्यक्ति या वस्तु नहीं, जिसमें कोई न कोई गुण न हो। समग्र विश्व गुण-दोषमय है। हाँ, अगर सर्वथा निर्दोष कोई है तो भगवान् ही है। पर आपको यदि सद्गुणी बनना है तो आप किसी के दोष न देख कर गुण ही ग्रहण करो।

श्रीकृष्णजी में गुण ग्रहण करने की वृत्ति बड़ी उग्र थी। एक बार इन्द्र ने स्वर्ग में कृष्णजी के इस गुण की बहुत प्रशंसा की। एक देव को इन्द्र की बात पर विश्वास नहीं हुआ। वह परीक्षा करने आया।

श्रीकृष्णजी भगवान् नेमिनाथ की वन्दना करने के लिए जा रहे थे। चतुरंगी सेना साथ चल रही थी। देव ने काले कुत्ते का रूप धारण किया और मृतक अवस्था में रास्ते में पड़ रहा। उसके कलेवर से इतनी तीव्र दुर्गंध फूट रही थी कि आसपास का सारा

वायुमंडल दूषित हो रहा था। सैनिक उस बदबू से व्यग्र हो उठे और नाक मूंदकर इधर-उधर होने लगे। कृष्णजी ने इसका कारण पूछा तो लोगों ने उस कुत्ते का हाल बतलाया। कृष्णजी ने उसे देख कर कहा—अहा! इसके श्यामवर्ण शरीर में बाहर निकले हुए श्वेत दांत ऐसे सुन्दर प्रतीत होते हैं जैसे मरकत मणि के भाजन में हीरे सुशोभित हों।

श्रीकृष्ण का कथन सुनकर देवता को विश्वास हो गया कि इन्द्र ने ठीक ही प्रशंसा की थी। वास्तव में इनमें दूषित से दूषित वस्तु के भी गुण ग्रहण करने की अद्भुत प्रशस्त वृत्ति है।

इस प्रकार की वृत्ति मनुष्य में विकसित होती है तभी उसे महत्ता प्राप्त होती है। इसके विपरीत, जो मनुष्य दूसरे के दोष देखता रहता है, वह अपनी दृष्टि को ऐसी दोषमय बना लेता है कि गुणों को देखने के लिए उसमें अन्धता आ जाती है।

किसी में बुराई है तो बुराई की तरफ मत देखो। बुराई की तरफ देखोगे तो वह बुराई तुम्हारे अन्दर घुस जायगी।

जैसा ग्राहक होता है, वह वैसी ही चीज की तरफ देखता है।

एक मालदार ने लाखों रुपया लगाकर भवन बनवाया। बढ़िया से बढ़िया फर्नीचर आदि आरायशी सामान से उसे सजाया। तत्पश्चात् उसने विचार किया--भवन असाधारण रूप से सुन्दर बना है, मगर जब तक दुनिया न देखे और तारीफ न करे तब तक इतना खर्च करने की सार्थकता ही क्या है? यह सोच कर उसने अपना नवनिर्मित भवन देखने के लिए सब को आज्ञा दे दी। लोग देखने को उमड़ने लगे। कोई किसी चीज की ओर

कोई किसी चीज़ की तारीफ करने लगा। जिसे जो वस्तु सब से ज्यादा सुन्दर प्रतीत होती थी, उसी की वह प्रशंसा करता था। कुछ महतरों ने भी देखने की इच्छा प्रदर्शित की, मगर वह ज़माना गांधीजी का नहीं था, अतएव उसने उन्हें भवन में नहीं जाने दिया। तब बाहर से ही उसे देखदाख कर उन्होंने कहा—उँह, भवन किस काम का है। इसमें पाखाना तो है ही नहीं !

तात्पर्य यह है कि जिसकी जैसी दृष्टि होती है, उसे वस्तु उसी रूप में दिखाई देती है।

किसी म्लेच्छ देश में एक राजा राज्य करता था। उस राजा के कुमार का नाम आर्द्र कुमार था। उधर पूर्व में, मगध देश के राजा श्रेणिक थे और उनके कुमार का नाम अभय कुमार था। संयोगवश दोनों कुमारों में मित्रता हो गई।

एक बार अभय कुमार ने विचार किया—दोस्त के लिए क्या वस्तु भेंट रूप में भेजना उचित होगा ? परस्पर उपहारों का आदान-प्रदान मैत्री की सरसता एवं सघनता का चिह्न है। ऐसा करने से मित्रता की भावना अधिक गहरी होती है।

तो अभय कुमार ने सोचा-दोस्ती सच्ची है तो मित्र के लिए आभूषण आदि लौकिक वस्तुएँ भेजना उपयुक्त न होगा। कोई लोकोत्तर वस्तु भेजना चाहिए। यह सोच कर उन्होंने ईश्वर भजन की आसन, माला आदि सामग्री भेजी। जब वे चीजें आर्द्र कुमार के पास पहुंची तो उसने उन्हें ध्यान से देखा। उनके विषय में गंभीरता के साथ मनन किया। उसे विशिष्ट ज्ञान--जाति-स्मरण ज्ञान-- उत्पन्न हो गया। तब आर्द्र कुमार ने मन ही मन कहा-मेरे मित्र ने मुझे गफलत की नींद से जगाने के लिए यह

चीजें भेजी हैं। मुझे सावधान होना चाहिए। इस प्रदेश में धर्म-साधना की सुविधा नहीं है, अतएव मुझको वहाँ जाना चाहिए जहाँ मेरे मित्र के गुरु भगवान् महावीर स्वामी हैं।

आर्द्रकुमार का यह विचार निश्चय के रूप में परिणत हो गया और सवारी लेकर वह महावीर स्वामी की सेवा में पहुँचने के लिए रवाना हुए। वह एक बड़े रईस के लड़के थे। उस समय भी नाना प्रकार के मतमतान्तर प्रचलित थे। उनमें एक मत गोशालक का भी था।

गोशालक को पता चला कि आर्द्रकुमार राजा का लड़का है। अगर यह मेरे निकट दीक्षित हो जाय और मेरा शिष्य बन जाय तो मेरे मत का प्रभाव बहुत बढ़ जायगा और मत खूब चलेगा। यह सोचकर गोशालक मार्ग में आर्द्रकुमार के पास जाकर मिला। उसने बड़ी मीठी बोली में पूछा-कुमार, किधर जा रहे हो?

कुमार—मैं भगवान् महावीर के दर्शनार्थ जा रहा हूं।

गोशालक—अजी, महावीर में क्या पड़ा है! तुम उसकी पोल नहीं जानते। मैं जानता हूँ। मैं छह वर्ष तक उसके साथ रहा हूँ। वह रंग पलटने में बड़े चतुर हैं। जब जैसा अवसर देखते हैं, वैसा ही ढंग बना लेते हैं। पहले पहल वह अकेले रहते थे और चेला नहीं बनाते थे। मौन धारण करके घूमते-फिरते थे। किसी से वार्तालाप नहीं करते थे और ध्यान में एकाग्र बने रहते थे। मगर थोड़े दिनों के बाद सारा ढंग बदल लिया। हजारों चेले बना लिये, चेलियाँ बना लीं और लाखों आदमियों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। अब वह अपने आपको तीर्थंकर कहते हैं और धर्म का उपदेश देते हैं। सोचना चाहिए कि यदि अकेले

रहने में ही धर्म था तो अन्त तक अकेले क्यों न रहे? फिर यह आडंबर करने की क्या आवश्यकता थी? और यदि आडंबर से ही रहना था तो पहले एकाकीपन का दंभ करने की क्या आवश्यकता थी?

अन्त में गोशालक ने कहा–इस प्रकार नाना रूप बदलने वाले महावीर के पास जाकर क्या लाभ उठाओगे? हमारे मत को समझने का प्रयत्न करो।

कुमार–सुनिये महाशय, मुझे आपका कहना कुछ ठीक नहीं जँचता। आपके वक्तव्य से स्पष्ट है कि भगवान् महावीर के प्रति आपकी दुर्भावना है। आप तटस्थ भाव से उनकी आलोचना नहीं कर रहे हैं। विभिन्न समयों और विभिन्न परिस्थितियों में मनुष्य की जीवन पद्धति और कार्य करने की पद्धति भिन्न-भिन्न प्रकार की ही हो सकती है, एक-सी नहीं।

भगवान् महावीर पहले साधक अवस्था में थे और कर्म काटने के लिए प्रयत्नशील थे। उस समय ध्यान और मौन और एकाकीपन आवश्यक था। पर साधना के द्वारा जब वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी और परम वीतराग हो गये तब उस साधना की सार्थकता नहीं रही। तीर्थंकर नाम कर्म उदय में आया और उसका क्षय करने के लिए भगवान् ने धर्मोपदेश देना आरंभ किया। धर्मोपदेश दिया तो चेले बने, चेलियाँ बनीं, और अनुयायी श्राविका-श्रावक भी बने।

भगवान् पूर्ण वीतराग हैं। समस्त प्रकार की कामनाओं से अतीत हैं। अपने किसी स्वार्थ की सिद्धि के लिए उन्होंने संघ की स्थापना नहीं की है। कृतकृत्य पुरुष का कोई प्रयोजन शेष हो

नहीं रहता। ऐसी स्थिति में भगवान पर आपका आक्षेप करना किसी भी प्रकार उचित नहीं है।

भव्य जीवों के पुण्य के उदय से वीतराग की वाणी निकलती है। जिनके महान् पुण्य का उदय होता है वे उसे श्रवण करते हैं और अनुसरण करते हैं। उन जीवों का कल्याण होता है। इतने पर भी भगवान् भाव से एकाकी हैं क्योंकि वे किसी भी वस्तु में लिप्त नहीं हैं।

भाइयो ! आर्द्र कुमार ने कितना बढ़िया उत्तर दिया ! अगर आपके सामने इस प्रकार की परिस्थिति आ जाय तो आप क्या उत्तर देंगे।

गोशालक कुमार का उत्तर सुनकर निराश हो गया। कुमार अपने संकल्प के साथ आगे बढ़े तो उन्हें अन्यान्य मतों के प्रवर्त्तक या उपदेशक मिले। उन सब के प्रश्नों का उत्तर देते हुए वे भगवान् के दर्शन करने पहुँचे। सचाई के सामने मिथ्या टिक नहीं सकता।

कुमार भगवान के चरणों में पहुंचे तो भगवान् तो केवल-ज्ञानी थे—

खेयन्नए से कुसले महेसी,
अनन्तनाणी य अनन्तदंसी।
जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स,
जाणाहि धम्मं च धिइं च पेहा॥

भगवान् महावीर के लोकोत्तर पारमात्मिक गुणों की कौन प्रशंसा कर सकता है? वे प्राणी मात्र के कष्टों के जानकार थे।

केवल जानकार ही नहीं थे, कष्टों को मिटाने का मार्ग भी बतलाते थे। किसी के कष्ट को जान लेना ही पर्याप्त नहीं है और जानकर सहानुभूति प्रकट कर देना भी काफी नहीं है, बलिहारी उसकी है जो कष्टों को दूर करता है और अभावों को दूर करता है।

ग्वाल के लड़के ने रोकर अपनी माँ से कहा—मैया, मैं तो खीर खाऊँगा। माँ के पास रूखी रोटियों की भी पूरी जुगत नहीं थी तो खीर कहाँ से बनती ? मगर बालक को माता की हालत का क्या पता था ? वह और अधिक जोर से रोने लगा। पड़ौस की सेठानियाँ बालक का रोना-मचलना सुनकर वहाँ आ पहुँचीं और पूछने लगीं-बच्चा क्यों रोता है ?

माता लज्जा से दबी जा रही थी। गरीबी थी मगर दीनता उसमें नहीं थी। उसने कभी किसी के आगे हाथ नहीं पसारा था। मिहनत मजूरी करके जो पाती, उसी से अपना निर्वाह करती थी। कभी आत्मगौरव को चोट नहीं पहुंचने देती थी। मगर सेठानियों ने जब पूछा तो उसे उत्तर देना ही पड़ा-यह खीर के लिए मचल रहा है। मैं खीर कहाँ से लाऊँ ?

सेठानियाँ बोली—राम-राम !

भाइयो ! इतना कह कर ही अगर वे अपने-अपने घर में घुस जाती तो उनकी सहानुभूति की क्या कीमत थी ? पर नहीं, उन्होंने उपस्थित समस्या का हल भी निकाला। एक ने कहा मैं अभी दूध भेजती हूँ ! दूसरी बोली-अच्छा, चावल मैं भेजूंगी। तीसरी ने कहा—तो दाख और पिश्ते मेरे यहाँ से आएँगे। चौथी ने कहा-ठीक है, मगर शक्कर तो मैं ही भेजूंगी।

लीजिए साहब, उस लड़के का काम बन गया।

भाइयो ! जब किसी दुःखी को देखो तो उसका दुःख दूर करने की शक्ति भर कोशिश करो। अन्यथा बड़े होने का क्या सार निकला ?

कोई राहगीर एक बगीचे की तरफ जा पहुंचा। उस बगीचे में गद्दी-तकिये लगे थे और गुलाम लोग राजा के पैर दबा रहे थे। गर्मी के दिन थे। राहगीर के पास पूड़ियाँ तो थीं, मगर शाक-भाजी या आचार नहीं था। समीप ही आम का पेड़ था और उसमें फल लगे थे। राहगीर ने आम गिराने के उद्देश्य से एक पत्थर उठाया और पेड़ पर मारा। उसने सोचा तो यह था कि एक-दो आम गिर पड़ेंगे और मैं उनके साथ आराम से पूड़ियाँ खा लूँगा। मगर दैवयोग से पत्थर राजा को लगा। राजा ने कहा-देखो तो सही, पत्थर फेंकने वाला कौन है ?

हुक्म होते ही, जिस दिशा से पत्थर आया था, उस दिशा में राजा के सेवक दौड़े और थोड़ी ही देर में उस राहगीर को पकड़ कर ले आये। राजा के सामने लाकर खड़ा कर दिया। राजा आखिर राजा था, समझदार था। उसने राहगीर के चेहरे पर गहरी दृष्टि और मन में विचार किया-इसकी शक्ल से ऐसा मालूम नहीं होता कि इसने जानबूझ कर मुझे पत्थर मारा हो। तब उससे पूछा—सच कहो, तुमने पत्थर क्यों फैंका ?

राहगीर राजा को देख कर हड़बड़ा गया था। मगर राजा का नरम रुख देख उसे ढाढस बँधा और उसने अपना कटोरदान खोल कर दिखलाते हुए कहा—अन्नदाता मेरे पास शाक नहीं था। कोरी पूड़ियाँ गले में उतरती नहीं। इस कारण मैंने एक दो आम

गिराने की नियत से पत्थर फैंका था। मुझे पता नहीं था कि महाराज यहाँ विराज रहे हैं।

इतने में सेवकों ने कहा—हुजूर, क्या हुक्म फर्माते हैं ? हुक्म हो तो बेंत मार-मार कर इसकी चमड़ी उधेड़ दी जाय ?

राजा ने कहा—सुनो, अगर मैं इस को सजा दूं तो इस वृक्ष से भी नीच मनुष्य हूँ। इसने मुझे पत्थर नहीं मारा, वृक्ष को मारा है। वृक्ष पत्थर मारने के बदले सजा नहीं देता बल्कि फल देता है, और मैं इसे सजा दूं ? ऐसा करने से तो मैं आम से भी ज्यादा निकम्मा होऊँगा। मेरी विशेषता तो अधिक फल देने में है। अतएव इसे एक हजार रुपया दे दो।

कहो, ऐसा गुण होना कोई साधारण बात नहीं है। तो कोरा विचार करने से किसी का दुःख नहीं मिटता। दुःख तो मिटाने से मिटता है। अतएव सामर्थ्यवान् पुरुषों को चाहिए कि वे अपने सामर्थ्य का सदुपयोग करें और दुखियों का दुःख दूर करें। जो ऐसा नहीं करते वे सामर्थ्यवान् ही कैसे ? उनके सामर्थ्य की सार्थकता ही क्या ?

राजा श्रेणिक ने अनाथी मुनि से पूछा-आप साधु क्यों बने ?

मुनि ने उत्तर दिया—मेरा कोई नाथ- रक्षक- नहीं था। इस लिए मैं साधु बन गया।

राजा श्रेणिक ने मुनि से यह उत्तर पाने की आशा नहीं की थी। खास तौर से उनका बाह्य वैभव इस उत्तर से एकदम विपरीत था। फिर भी जब मुनि ने यह उत्तर दिया तो राजा सोचने लगा—मैंने इनके दुःख की बात तो पूछी, मगर पूछकर चुप हो जाना या

मौखिक सहानुभूति प्रकट कर देना हो तो काफी नहीं है। फिर राजा होकर पूछने से क्या फायदा हुआ ?

यह सोचकर श्रेणिक ने कहा—अगर आपका नाथ नहीं है तो मैं आपका नाथ बनता हूँ। सोने का सदन रहने को दूंगा और सुन्दरी रमणियों के साथ विवाह करा दूंगा।

इसको कहते हैं बड़प्पन। दुखिया की दुःख कथा सुनकर सामर्थ्य रहते भी जो उसे दूर नहीं करता, वह काहे का बड़ा आदमी है !

एक औरत इधर से आई और दूसरी उधर से आई। दोनों एक दूसरी को अपना-अपना दुखड़ा सुना कर रोने लगी तो किससे किसको लाभ पहुँचा ?

उदयपुर के पास ऊँटाला गाँव है। वहाँ एक बहिन गरीबिनी थी। उसकी लड़की का विवाह था। उसने दूसरी स्त्री से कहा मेरे पीहर में कोई नहीं है। शादी का समय आ गया है। कौन चूंदर लाएगा ? यह कह कर वह जोर-ज़ोर से रोने लगी।

स्त्रियों को अपने पीहर की याद आये बिना नहीं रहती। रुक्मिणी इतनी बड़ी महारानी थी। तीन खण्ड के नाथ के प्रेम की पात्री थी। फिर भी अपने भाई के सामने क्या बोली—

वीरा म्हाने वेगी लेवा ने आज्यो।
पिहर का रुखड़ा जल्दी दिखाज्यो॥

कृष्ण के घर में किस चीज़ की कमी थी ? फिर सोलह हजार रानियों में जो पटरानी थी, उसे क्या कमी हो सकती है ? प्रद्युम्न का जन्म होने पर क्या टोपी की कमी रह सकती थी ? पर

पीहर की बात बड़ी है। कोई भी महिला अपने पीहर को भुला नहीं सकती।

हाँ, तो वह स्त्री रोने लगी। वह उसके अन्तःकरण का रुदन था। वह रो ही रही थी कि अचानक वहाँ महाराणा साहब पहुँच गये। उन्होंने अपना आदमी भेजकर उसके रोने का कारण तलाश करवाया। जब रोने का कारण उन्हें मालूम हो गया तो उस स्त्री को कहला भेजा-तुम्हारी लड़की के विवाह के समय पीहर से आने वाली सब चीजें पहुंच जाएँगी। किसी प्रकार की चिन्ता मत करना। मुझे तुम अपना भाई ही समझना।

भाइयो, कब हुए वह राणाजी, मगर समय पर ऐसे-ऐसे उदारचरित पुरुषों की जीवनगाथा याद आये बिना नहीं रहती।

जब विवाह का मुहूर्त्त आया तो राणाजी ने हजारों रुपयों का सामान भेजा। यह जानकर कि मेवाड़ के महाराणा साहब ने यह सामान भेजा है, एक गरीबिनी को कितनी खुशी न हुई होगी? इन्हें कहते हैं बड़े आदमी! बड़े आदमी के कोई सुर्खाब के पर नहीं लगे होते। जिनके काम बड़े होते हैं, वही बड़े आदमी कहलाते हैं। धन का विशाल भंडार आदमी को बड़ा नहीं बना सकता। बड़े-बड़े महलों से भी कोई बड़ा नहीं कहला सकता। बड़प्पन मनुष्य के कामों में है।

किसी दुखिया ने तुम्हारे सामने अपना दुखड़ा रोया और तुम कहते हो-अच्छा सोचेंगे? अरे, गरीब को तकलीफ अभी है और तुम फुर्सत से सोचोगे?

तो जो महापुरुष होते हैं, वे ज्ञानी ही नहीं होते, दूसरों का कष्ट भी मिटाते हैं। भगवान् महावीर स्वामी अनुत्तर ज्ञानी थे। उन्होंने जगत् के जीवों के दुःखों को भलीभाँति समझ लिया था।

अतएव उन्होंने यही उपदेश दिया कि-मरना सब को अप्रिय है; मृत्यु सब जीवों को दुःखरूप प्रतीत होती है, इस कारण किसी जीव की हिंसा मत करो।

ऐसे होते हैं महापुरुष। भाइयो! न धन हमेशा रहता है और न जीवन सदा रह सकता है। जिस समय राजा मानसिंह गढ़ बनवाने लगे तो लोग बोले-अन्नदाता गढ़ का निर्माण करा रहे हैं। उस समय राजा साहब ने एक पद्य बनाया था, जिसका कुछ अंश ऐसा था—

गढ़ रहे न गढ़पति रहे,
न रहे सकल जहान।
नृप मान कहे दोय रहे,
नेकी बदी सुजान॥

न गढ़ रहेगा, गढ़पति रहेगा और न आज का जहान ही शेष रह जायगा। मगर जिसने नेकी की है, वही रहेगा-परोपकारी का यश अमर रहेगा। यह सप्त धातुओं का शरीर सड़ जाता है, गल जाता है, राख बन जाता है और मिट्टी में मिल जाता है; परंतु यशःशरीर युग-युग में विद्यमान रहता है और देश-काल की सीमाओं को लांघ कर स्थायी बन जाता है।

उन्हीं राजा मानसिंहजी ने जैन मुनियों के संबंध में भी एक कवित्त बनाया है—

सीधी सी अरोगे रोटी बातां करे मोटी मोटी।

राजा को मालूम था कि यह साधु बड़े निस्पृह हैं और किसी से कुछ आशा नहीं रखते। इन्हें इस बात की परवाह नहीं कि फलांचन्द्रजी होंगे तभी काम चलेगा। जिसे दमड़ी लेना हो वह

खुशामद करे। साधुओं को छोरा-छोरी थोड़े ही ब्याहने हैं। उनके लिए तो राजा-रंक सब समान हैं। उनकी दृष्टि में वही सम्पत्तिशाली है जो धर्मध्यान करता है। पूज्य उदयसागरजी म. फर्माया करते थे कि जिसने धर्म रूपी धन का संचय किया है, वही करोड़पति है। उसके समान कोई करोड़पति नहीं है। आगे धन साथ नहीं चलेगा, धर्म ही चलेगा। इन सोने और चांदी के टुकड़ों में क्या पड़ा है! ये क्या काम आ सकेंगे अगले जीवन में? आगे के लिए संचय नहीं करोगे तो क्या पा लोगे? देखो, ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती के पास कितनी सम्पत्ति थी? वह बहुत बड़ा पुण्य लेकर आया था और उसने बहुत बड़ी सम्पत्ति पाई थी। मगर चक्रवर्त्ती होकर आगे के लिए कुछ भी नहीं किया तो क्या परिणाम भुगतना पड़ा? उसे सातवें नरक में जाना पड़ा। कर्मों ने इस बात की जरा भी परवाह नहीं की कि यह छह खंड का नाथ है। कौन पूछता है छह खंड के नाथ को! आज वह नरक की भीषण यातनाएँ भोग रहा है।

मानसिंहजी ने कहा है—साधु किसी के सामने दीनतापूर्ण वचन नहीं बोलते। राजा हो या राणा हो और आ जाय तो भी साधु अपने पाट से उतर कर खड़ा नहीं होता।

इसका अभिप्राय यह न समझिए कि साधु अहंकार में चूर होकर ऐसा करता है। अगर साधु वैभवशाली लोगों का आदर करता है तो प्रकारान्तर से उसके वैभव का ही आदर करता है। बाह्य वैभव साधु की दृष्टि में आदरणीय नहीं, हेय है। वैभवशाली पुरुष को यही बात स्मरण दिलाने के लिए साधु उसका आदर नहीं करते। अलबत्ता जब उनसे अधिक आध्यात्मिक गुणों का धारक कोई सन्त सामने आता है तो वह उठ कर उसके चरणों में गिर जाता है।

राजा-राणा नाराज होगा तो साधु का क्या बिगाड़ लेगा ? क्या छीन लेगा ? उसके पास रक्खा ही क्या है ? झोली और तूंबी ले लेगा तो साधु कहेगा-ले लो, तुम्हीं ले लो। तुम ही माँग कर खाना।

सीधी रोटी और बातें मोटी ! साधु रोटी पकाने की झंझट नहीं करते। गृहस्थ ने अपने लिए जो बनाया है उसमें से थोड़ा सा भाग ले लेते हैं। जिस दिन भिक्षा नहीं मिलती, उस दिन अनायास ही तपस्या हुई समझकर खुशी मनाते हैं। फिर भी बातें करते हैं बहुत ऊँची-ऊँची। वे इस रहस्यमयी सृष्टि के गुह्य तत्त्व उघाड़ कर सामने रख देते हैं। आत्मा को परमात्मा बनने का पथ प्रदर्शित करते हैं। तीन लोक का नाथ बनने की विधि बतलाते हैं। रामचन्द्र महाराज के घर की, भरतजी के घर की, युधिष्ठिर भीम और अर्जुन के घर की, हरिवंश और इक्ष्वाकुवंश की, बलदाऊ के घर की और तीर्थंकरों के घर की बड़ी-बड़ी बातें कहते हैं।

राजा मानसिंह कहते हैं—सारी दुनियाँ दुखी है लेकिन ये जैन साधु ही सुखी हैं। इनके विषय में यह उक्ति सौ फी सदी फबती है—

ना काहू सौं दोस्ती, ना काहू सौं बैर।

न किसी से नाराज। न किसी पर द्वेष। और न किसी की बुराई में। कोई मान करो या अपमान करो, निन्दा करो या स्तुति करो, सब पर एक-सा करुणा का भाव है। जीव मात्र के कल्याण की कामना उनके अन्तःकरण में व्याप्त है।

इस मार्ग को बतलाने वाले भगवान् महावीर थे। उन प्रभु की कौन प्रशंसा करके पार पा सकता है ? वे अनन्त गुणों के भण्डार थे। उनके एक-एक गुणों की भी पूरी प्रशंसा नहीं की जा

सकती तो अनन्त गुणों की प्रशंसा की बात ही दूर की है। उन अनन्तज्ञानी और अनन्तदर्शी भगवान् महावीर ने संसार के प्राणियों के दुःख को समझा, दुःख के कारणों को समझा और उसके निवारण का मार्ग बतलाया। उन्होंने कहा--अरे जीव! जगत् में जन्म, जरा और मरण ही सबसे बड़ा दुःख है और इस दुःख का मूल कारण है जीव की राग-द्वेष रूप विभाव परिणति। यह विभाव परिणति जीव को अपने वास्तविक स्वरूप की ओर नहीं देखने देती, उसे नहीं पहचानने देती और उसे प्राप्त करने के मार्ग पर नहीं चलने देती। अतएव इस विभाव परिणति का त्याग कर अपने स्वभाव की ओर झुको। अपने स्वरूप को पहचानो। अपनी असली सम्पत्ति को सँभालो। तुम्हारे भीतर अनन्त आनन्द अनन्त ज्ञान और अनन्त प्रकाश छिपा है। वह छिपा है इसी से तुम उसे देख नहीं पाते। और सच तो यह है कि उसे देखने का प्रयत्न ही नहीं करते। जिस दिन तुम्हें अपने आपके प्रति कुतूहल जागेगा, अपने को पहचानने की इच्छा जागृत होगी और अपने आपको पहचान लोगे, उस दिन अपने पिछले अज्ञानमय व्यवहार के लिए आप ही हँसोगे और सोचोगे कि मैं इतने दिन तक कैसा मूढ़ बना रहा। मैंने सारे संसार को समझने का प्रयत्न किया मगर अपने को नहीं समझा। मैं पुद्गलों को सर्वस्व समझता रहा और उसी को बड़ी सम्पत्ति मानता रहा, परन्तु अपने विराट् वैभव को तुच्छ मानता रहा!

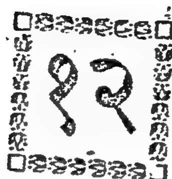
इस प्रकार जब अपने स्वरूप का ज्ञान होगा तो आत्मा में से ही अतुल आनन्द का स्रोत बहेगा। उसमें अवगाहन करने से तेरा समस्त पाप, ताप, संताप मिट जायगा। तुझे अपूर्व शान्ति प्राप्त होगी।

जब तक यह स्थिति प्राप्त नहीं होती तब तक भी तू दूसरों के दोषों का देखना त्याग कर और सद्गुणों की ओर ध्यान दे।

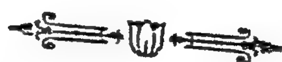
दुनिया में दुर्गंध भी है, सुगंध भी है। तुझे भ्रमर का अनुकरण करना चाहिए, मक्खी का नहीं।

इस प्रकार जो गुणों को ग्रहण करेगा और अवगुणों का परित्याग करेगा, वह गुणवान् बनकर आनन्द ही आनन्द का भागी होगा।

ब्यावर
२२-११-४७



दुर्लभ लाभ



स्तुतिः—

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ,
तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय,
तुभ्यं नमो जिन ! भवोदधिशोषणाय ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फरमाते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

हे तीन लोक के समस्त प्राणियों की पीड़ा को हरण करने वाले आदिदेव ! आपको ही हमारा वार-वार नमस्कार है। हे पृथ्वीतल के निर्मल अलंकार ! आपको हमारा बार-बार नमस्कार है। जन्म, जरा और मरण के जहरीले जल से परिपूर्ण संसार-

सागर का शोषण करने वाले हे नाभिनन्दन ! आपको हमारा बार-बार नमस्कार है।

विकास की प्रथम सीढ़ी स्तुति है। जिस पुरुष को जिस क्षेत्र में अग्रसर होना है, उसे उस क्षेत्र में आगे बढ़े हुए महान् पुरुषों के प्रति आदर का भाव जागृत होता है। इस प्रकार का आदरभाव हृदय में जागने से ही उस क्षेत्र में आगे बढ़ने की अन्तः प्रेरणा मिलती है। हृदय में जागे हुए आदरभाव को वचन के द्वारा प्रकाशित करना ही स्तुति कहलाती है।

हार्दिक आदरभाव और वाचनिक स्तवन के द्वारा जब गुणवान् पुरुषों का बहुमान किया जाता है, तब मस्तक स्वतः उनके चरणों में विनम्र हो जाता है। इस तरह जब तीनों योगों में एक-रूपता उत्पन्न होती है तो मनुष्य सैकड़ों विघ्नों और हजारों बाधाओं को पार करता हुआ आगे बढ़ता है और अपने उद्देश्य की सिद्धि कर लेता है।

मनुष्य को चाहिए कि वह सद्गुणी पुरुषों के गुणों का गान करे, स्तवन करे। इससे उसे सद्गुणी बनने की प्रेरणा मिलेगी और वह सद्गुणी बन जायगा। गुण-गान से भविष्य में यह लाभ तो होगा ही, मगर इसके अतिरिक्त उसे एक बड़ा तात्कालिक लाभ भी होता है। गुणगान के समय मन, वचन और काय की प्रशस्तता होती है और उससे वह बहुत कर्मों की निर्जरा करता है। अगर उसका शुभ उपयोग हुआ तो पुण्यकर्म का बंध करता है।

श्री उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है—

प्रश्न—चउवीसत्थएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—चउवीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ।

यहाँ प्रश्न किया गया है— भगवन्, चतुर्विंशति तीर्थंकरों का स्तवन करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है–इससे जीव की दर्शनविशुद्धि होती है, अर्थात् स्तवन कर्त्ता की श्रद्धा सुदृढ़ होती है, उसमें कहीं त्रुटि हो तो वह हट जाती है, किसी अंश में मलिनता हो तो वह धुल जाती है।

इस प्रकार स्तुति करने से महान् लाभ की प्राप्ति होती है। अतएव मुमुक्षु पुरुष मुक्तात्माओं की स्तुति करे यह स्वाभाविक है। इससे उसकी मोक्ष संबंधी श्रद्धा गाढ़ी होगी। चित्त में प्रशस्त वृत्तियाँ उत्पन्न होंगी। वह अशुभ कर्मों के बन्ध से बच जाएगा और अपने कल्याण का द्वार खोल लेगा।

भाइयो ! अगर थोड़ी देर के लिए भी आप अशुभ अध्यवसाय से बचेंगे तो भी आपको महान् लाभ प्राप्त होगा। आप जानते होंगे कि एक-एक समय में जीव अनन्त-अनन्त कर्म परमाणुओं का बन्ध करता है। अगर जरा सी देर के लिए भी आपके मन में मलिन भावना उत्पन्न हो जाती है तो आप अनन्त पाप-कर्मों का बंध कर लेते हैं और यदि थोड़ी-सी देर के लिए भी आपके शुभ भावना उत्पन्न होती है तो अनन्त पुण्यकर्म परमाणु बंध सकते हैं। अगर इन दोनों प्रकार की भावनाओं से उच्च शुद्ध भावना आपकी आत्मा में जाग उठे तब तो कहना ही क्या है ! उस समय आप आस्रव और बंध से मुक्त होकर अनन्त कर्म परमाणुओं की निर्जरा के भागी होंगे।

तात्पर्य यह है कि जीवन में थोड़ा सा भी समय बहुत मूल्य रखता है। कभी-कभी ऐसे महत्त्वपूर्ण अवसर आते हैं, जिन पर आपके भावी जीवन का आधार है। उन बहुमूल्य क्षणों में अगर आप प्रमादमय होंगे तो आपका भावी जीवन बिगड़ जायगा और

यदि सावधान होंगे, आत्माभिमुख होंगे तो आपका भविष्य मंगलमयी बन जायगा। मगर कठिनाई यह है कि हम उन दुर्लभ क्षणों को पहचान नहीं सकते। नहीं जान पाते कि वे अनमोल क्षण कब आएँगे और कब चले जाएँगे।

तब मनुष्य को क्या करना चाहिए? एक ही उपाय है और वह यही कि सदैव सावधान रहा जाय। सदैव अपनी मनोवृत्तियों पर नियंत्रण रक्खा जाय और क्षण भर के लिए भी प्रमाद की स्थिति उत्पन्न न होने दी जाय। यही मार्ग भगवान् महावीर ने बतलाया है—

समयं गोयम! मा पमायए।

अर्थात्—हे गौतम! समय मात्र का भी प्रमाद न कर।

जो समय मिला है, उसका अधिक से अधिक अच्छा उपयोग कर लेना ही बुद्धिमान् पुरुष का कर्त्तव्य है। समय चूका कि फिर पछतावा ही रह गया।

आप कह सकते हैं कि भगवान् के कथनानुसार आत्मा अमर है, शाश्वत् है, अनिवाशी है और अखण्ड है। लेकिन जब आत्मा अमर है तो मौत किसको आती है? भगवान् फर्माते हैं कि वास्तव में तो तुम अमर ही हो, मगर तुम्हारे साथ लगे हुए पुण्य और पाप जन्म--मरण के कारण हैं। जब यह दोनों नष्ट हो जाते हैं तो न जन्म होता है और न मरण ही होता है।

पुण्य और पाप का काम अलग-अलग है। पाप अनिष्ट सामग्री प्रदान करता है और पुण्य इष्ट सामग्री प्रदान देता है। पाप जीव को गर्भ में ही मार डालता है या जन्मते ही प्राण ले लेता है। पुण्य मनुष्य को लंबा आयुष्य प्रदान करता है। पाप के उदय से जीव आत्मकल्याण की सामग्री से वंचित होता है और

पुण्य के उदय से वैसी सामग्री पाता है। इस प्रकार पुण्य आत्मा के लिए उपयोगी तो है, परन्तु एक अवधि तक ही। वह जीव को उस अवधि से आगे नहीं बढ़ने देता। आगे बढ़ने के लिए उसे पुण्य का भी क्षय करना ही पड़ता है। पाप और पुण्य दोनों का क्षय हो जाना ही मोक्ष है। कहा भी है—

पुण्यपापक्षयो मोक्षः।

यद्यपि उच्च श्रेणी पर पहुँचने के पश्चात् पुण्य का भी क्षय होता है, किन्तु प्रारंभ में तो वही हितकारी है, क्योंकि मनुष्य-जीवन भी पुण्य का ही फल है और वह न मिले तो आत्मा का कल्याण ही कैसे हो?

भगवान् ने ठाणांगसूत्र के सातवें स्थानक में फर्माया है कि हे जीवो! किधर धुन लगाये बैठे हो? दूसरी धुन छोड़ कर केवली के वचन सुनो। जिसके बल तुम्हारा शरीर टिका हुआ है, वह आयुष्य का बल है। जहाँ तक तुम्हारा आयुष्य पूर्ण नहीं होता, वहाँ तक ही तुम ठहरे हो। स्टेशन आने पर रेल में से उतरना पड़ता है। इसी तरह जब वर्त्तमान आयु पूर्ण हो जाती है तो दूसरा टिकिट कटाना पड़ता है।

आयुष्य का नियत अवधि पर अन्त आता ही है, पर सात कारणों में से किसी कारण के मिल जाने पर जल्दी भी अन्त आ जाता है। सात कारण असमय में भी आयु का खंडन कर देते हैं।

आयु दो प्रकार की होती है—सोपक्रम और निरुपक्रम। सोपक्रम आयु में उपक्रम लग सकता है और निरुपक्रम में नहीं लग सकता। आयु का विघात करने के कारण को उपक्रम कहते हैं। यह उपक्रम, जो नियत अवधि से पूर्व ही आयु को क्षीण कर देते हैं, प्रधानतया सात प्रकार के हैं। यथा—

अज्झवसाणनिमित्ते आहारे वेयणा पराघाए ।
फासे आणापाणू, सत्तविहं भिज्जए आऊ ॥

(१) अध्यवसाय—जब मनुष्य के हृदय में कोई तीव्र विचार उत्पन्न होता है तो उसकी आयु का अन्त हो जाता है। अत्यधिक गहरी चिन्ता या फिक्र या शोक होने पर हृदय की गति अवरुद्ध हो जाती है और प्राणों का अन्त आ जाता है। इसी तरह अत्यधिक हर्ष होने से भी हार्ट फेल हो जाता है।

एक आदमी ने लॉटरी भरी। लाटरी में उसे प्रथम पुरस्कार मिला। किसी ने उसे यह हर्ष समाचार सुनाया। जब उसने यह सुखद समाचार सुना तब वह मकान की छत पर केलू जमा रहा था। उसने भारी रकम प्राप्त होने का समाचार सुना तो मारे खुशी के उसी समय उसके हृदय का स्पन्दन रुक गया और प्राणान्त हो गया।

किसी को थोड़ी चिन्ता हो तो वह पागल हो जाता है और तीव्र चिन्ता प्राणों को ले बैठती है।

विद्यार्थियों की परीक्षा ली जाती है और उसका परिणाम बहुत दिन बाद प्रकाशित किया जाता है। अगर तत्काल परिणाम घोषित कर दिया जाय तो हानि होने की संभावना हो सकती है। तात्पर्य यह है कि किसी भी कारण से विचार की तीव्रता से मनुष्य की मृत्यु हो सकती है।

भगवान् ने हर्ष-विषाद के समय समभाव में रहने का विधान किया है। यह विधान इस दृष्टि से भी कितना उपयोगी है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। जो इष्ट पदार्थ के संयोग से हर्षित होते हैं, उन्हें उसका वियोग होने पर विषाद का भी पात्र बनना

पड़ता है। इसी कारण सन्तजन लाभ--अलाभ में, सुख-दुःख में, मान अपमान में और यहाँ तक कि जीवन--मरण के प्रसंग में भी अखण्ड समभाव रखते हैं। उन्हें कोई भी परिस्थिति उद्विग्न नहीं कर सकती। जिसे दुनिया बड़ी से बड़ी दुर्घटना कहती है, उसमें भी साधु जन निर्बाध समभाव में स्थित रहते हैं। यही उनके सुख-दुःख से परे हो जाने का कारण है।

किसी जीव को अवधिज्ञान उत्पन्न हो और उसे उससे विस्मय या कुतूहल हो जाय तो वह नष्ट हो जाता है। एक मुनिराज को अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ तो उन्हें हजारों कीट और कुंथवे दिखाई देने लगे। उन्हें अपने ज्ञान पर एकदम आश्चर्य हुआ। मगर इसका नतीजा यह हुआ कि वह अवधिज्ञान ही गायब हो गया।

अभिप्राय यह है कि अध्यवसाय की तीव्र गति होते ही आदमी पागल हो जाता है या उसका ज्ञान चला जाता है या वह मरण-शरण हो जाता है।

(२) निमित्त—आयु के उपक्रमण का दूसरा कारण निमित्त है। जैसे किसी ने किसी के कपाल में लट्ठ मार दिया तो वह चक्कर खाकर गिर पड़ा और मर गया। जब लकड़ी या पत्थर की चोट किसी मर्मस्थान पर लग जाता है तो मनुष्य की तत्काल मृत्यु हो जाती है।

एक आदमी ने किसी कुत्ते को पत्थर मारा। पत्थर कुत्ते के भेजे में लगा। वह उसी समय चक्कर खाकर गिर पड़ा और तुरंत मर गया। इसी प्रकार एक गाय भी मर गई थी।

निमित्त अनेक प्रकार के होते हैं। कोई असावधानी से ऊँचे मकान से गिर जाय या कोई धक्का देकर गिरा दे तो मृत्यु हो जाती है।

कोई अधिक आयुवाला पुरुष यदि नवयुवती से विवाह करता है तो वह भी जल्दी मरता है। यद्यपि कोई-कोई धृष्ट पुरुष कहते हैं-मैंने एक विवाह किया, फिर दूसरा और फिर तीसरा किया, लेकिन तीनों पत्नियाँ मुझे रंडुवा बना कर चल दीं। अब चौथी बार शादी करके मैं भी एक को रांड बनाऊँगा। यह भी एक प्रकार का निमित्त है और इससे भी आदमी जल्दी खत्म होता है। तरुण स्त्री का वृद्ध पुरुष से और वृद्धा स्त्री के साथ तरुण पुरुष का सम्बन्ध होना शीघ्र मृत्यु का कारण है। अतएव शास्त्रों में ब्रह्मचर्य की बड़े ही ओजस्वी शब्दों में महिमा गाई गई है।

कई लोग ब्रह्मचर्य पालने में अपनी असमर्थता प्रगट करते हैं। पर वास्तव में यह कोरी मानसिक दुर्बलता ही है। मन को बलवान् बना लिया जाय तो कोई कठिनाई नहीं आ सकती। हमारे सामने अनेकानेक उदाहरण हैं जिनमें कुमारों और कुमारियों ने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया है। प्राचीन काल में भी ऐसी महान् आत्माएँ थी और आज भी हैं।

फिर भी यदि किसी का मन इतना सबल नहीं है तो वह वर्ष में एक दिन छोड़ कर ब्रह्मचर्य पाले। यह भी नहीं बनता तो महीने में एक दिन अपवाद रख कर ब्रह्मचर्य का पालन करो। अगर इतना भी न हो सके तो कफ़न सिरहाने रख कर सोओ। शरीर का राजा वीर्य है। अगर राजा बिगड़ गया या नष्ट हो गया तो प्रजा का पता लगाना ही कठिन है। शरीर का राजा बिगड़ जाता है तो फिर जल्दी ही लक्कड़ इकट्ठे करने पड़ते हैं।

आपको मालूम है कि तीर्थंकरों की माताएँ बड़ी-बड़ी रानियाँ थीं। मगर उन्हें जब स्वप्न आये तो वे अपने शयनागार से

उठकर पतिदेव के पास स्वप्न सुनाने गईं। इससे स्पष्ट विदित होता है कि पति और पत्नी के शयनगार पृथक्-पृथक् होते थे।

एक ही शय्या पर सोना अपने शरीर को नष्ट करना है। ब्रह्मचर्य को कायम रखने के लिए शास्त्र में नौ वाड़ों का विधान किया गया है। जैसे खेतो की रक्षा के लिए खेत के चारों ओर वाड़ लगा दी जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए भी वाड़ की आवश्यकता है। धान्य प्राणों का आधार है, उस पर जीवन टिका है, अतएव उसकी रक्षा करना आवश्यक है और रक्षा के लिए वाड़ लगाना भी आवश्यक है परन्तु वीर्य धान्य की अपेक्षा अत्यधिक मूल्यवान् है और जीवन का अनिवार्य आधार है। अतएव उसकी धान्य की अपेक्षा अत्यधिक सुरक्षा होनी चाहिए। इसी कारण उसकी रक्षा के लिए नौ वाड़ें बतलाई गई हैं।

इन नौ वाड़ों में एक वाड़ स्त्री–पुरुष का सामीप्य न होना भी है। नीतिकार भी कहते हैं—

घृतकुम्भसमा नारी, तप्तांगारसमः पुमान्।
तस्माद् घृतं च वह्निं च, नैकत्र स्थापयेद् बुधः॥

अर्थात्– नारी घी के घड़े के समान है और पुरुष जलते हुए अंगार के समान है। अतएव बुद्धिमान् पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह दोनों को एक जगह न रक्खे।

बात सही है। अग्नि के पास जमा हुआ घी रख दिया जाय तो वह पिघले बिना नहीं रहता। इसी प्रकार पति-पत्नी अगर एक ही शय्या पर शयन करेंगे तो उनमें विषयवासना भड़के बिना नहीं रह सकती। साथ शयन करने से वीर्य पतला पड़ जाता है और फिर वैद्यराजों के द्वार खटखटाने पड़ते हैं और सैकड़ों रुपये औषधों

में खर्च करने पड़ते हैं। इतना करने पर भी वह पूर्वावस्था नहीं आ सकती और पश्चात्ताप करना ही शेष रहता है।

दवाओं के सहारे प्राप्त की गई तन्दुरुस्ती भी कोई तन्दुरुस्ती है! असली तन्दुरुस्ती वही है कि दवा का काम ही न पड़े। दवा तो बुड्ढे की लकड़ी के समान है। लकड़ी हाथ में रही तब तक तो गनीमत और जब न रही तो चलना ही कठिन। इसी प्रकार दवा का सेवन करते रहे तब तक तो तन्दुरुस्त रहे और दवा छोड़ी कि फिर बीमार के बीमार। यह भी कोई तन्दुरुस्ती है!

आप देख रहे हैं कि ज्यों-ज्यों नयी-नयी दवाओं का आविष्कार हो रहा है और डाक्टरों की संख्या बढ़ती जा रही है, त्यों-त्यों बीमारियाँ भी बढ़ती जाती हैं। कम नहीं हो रही हैं। इसका कारण यह है कि यह दवाएँ रोगों को नष्ट नहीं करती बल्कि दबा देती हैं और उनसे दूसरे रोग के बीज पड़ जाते हैं। अतएव दवाओं के सहारे जीने वाला मनुष्य ज्यादा नहीं जी सकता।

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने तन और मन की स्वस्थता के लिए संयम पूर्वक रहे। ब्रह्मचर्य सबसे बड़ा संयम है। वीर्यरक्षा प्राणों का प्राण है। उसी के आधार पर जिंदगी टिकी है। अतएव वीर्य की रक्षा करो। वीर्यरक्षा के लिए ब्रह्मचारी महापुरुषों के चरित का अध्ययन करो, स्वाध्याय करो, प्रशस्त भावनाएँ रक्खो, भोजन में और रहन सहन में सादगी धारण करो, गंदे विचारों को मन में मत आने दो, स्त्रियों के संसर्ग से बचो (और स्त्रियाँ पुरुषों के संसर्ग से बचें) तथा भगवान् का निरन्तर स्मरण करते रहो।

तात्पर्य यह है कि निमित्त का महत्त्व कम नहीं है। निमित्त मिलने से कार्य होता है और निमित्त न मिलने से कार्य नहीं होता। इसीलिए कहा गया है कि साधु को एकला नहीं रहना चाहिए और

दो या तीन साधुओं के पास सोना चाहिए। जिसे अपना धर्म निभाना हो उसे औंधा नहीं सोना चाहिए और स्त्री को चित नहीं सोना चाहिए। अमुक उम्र का लड़का हो तो उसे माता अपने पास न सुलावे और इतनी अवस्था की लड़की हो जाय तो उसे पिता अपने पास न सुलावे। जहाँ तक हो सके, स्त्री-पुरुष का एकान्त वास टालना चाहिए। एकान्तवास में धर्म का निभाना बड़ा कठिन काम है।

(३) आहार— आयु के उपक्रमण का तीसरा कारण आहार भी बन जाता है। परिमाण से अधिक या दूषित या विरुद्ध आहार भी मृत्यु का कारण है। आहार की अधिकता से अपच, अजीर्ण आदि व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अजीर्णता रोगों का घर है। उसमें भी भोजन का अजीर्ण तो जल्दी मिट सकता है, परन्तु पानी का अजीर्ण बहुत देर से मिटता है।

पाचनशक्ति से अधिक भोजन किया जाता है तो अजीर्ण अवश्य हो जाता है। जैसे थोड़ी सी आग पर ज्यादा ईंधन रख दिया जाय तो वह बुझ जाती है, उसी प्रकार थोड़ी पाचनशक्ति पर अधिक भोजन का बोझ लाद दिया जाता है तो वह भी दब जाती है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी पाचनशक्ति को ठीक तरह समझे और उसके साथ बलात्कार न करे।

बहुत से लोग भोजन को जिह्वा-इन्द्रिय की तृप्ति का साधन समझते हैं। वे लोलुपता के कारण स्वादिष्ट भोजन मिलने पर अपनी पाचनशक्ति का खयाल नहीं रखते और ठूंस-ठूंस कर खा जाते हैं। ऐसी स्थिति में जो भोजन प्राणरक्षा का साधन है, वही प्राणनाश का कारण बन जाता है।

आज मनुष्यों में काफी दुर्बलता बढ़ गई है। इसका प्रधान कारण भोजन संबंधी असंयम है। लोग जिंदे रहने के लिए नहीं

खाते, वरन् खाने के लिए जिद्दे रहते हैं। इस गलत धारणा के कारण अधिक मिर्च--मसाले वाला भोजन किया जाता है। चटपटे भोजन के बिना चैन नहीं पड़ता। चटपटेपन से भोजन की सात्विकता नष्ट हो जाती है। उससे शरीर को जो पुष्टि मिलनी चाहिए, वह नहीं मिलती। बल्कि वह भोजन आयु की रस्सी को शिथिल करता है। वह रोगों का कारण बनता है और एक दिन प्राण हर लेता है। इस प्रकार आहार भी आयु के उपक्रमण का एक कारण है।

(४) वेदना—आयु के उपक्रमण का चौथा कारण वेदना है। वेदना के कारण भी जल्दी शरीर का अन्त हो जाता है। मनुष्य को खयाल रखना चाहिए कि करोड़ों रुपये होने पर भी यदि शरीर नीरोग न हो तो रुपये किस काम के हैं? घर के लोग बादाम का सीरा खाते हैं और उस रोगी को बिना चुपड़ी अलूनी रोटी खानी पड़ती है! ऐसे समय उसकी करोड़ों की सम्पत्ति उलटा अधिक संताप ही उत्पन्न करती है।

कई प्रकार की बीमारियाँ होती हैं। कभी-कभी पेट में या कान में ऐसा तीव्र शूल उत्पन्न होता है कि आदमी तुरंत मर जाता है और तड़फते--तड़फते बड़ी बुरी तरह प्राण त्यागता है। कोई-कोई बीमारी ऐसी होती है कि उससे घुल-घुल कर आदमी मरता है। राजयक्ष्मा ऐसी ही भयानक बीमारी है। इस बीमारी से सहसा मृत्यु नहीं होती वरन् धीरे--धीरे मनुष्य का शरीर गलता जाता है। बीमार के नेत्रों के सामने सदैव मौत का मूर्त्तिमान् चित्र खड़ा रहता है और उसके चित्त को व्याकुल बनाये रहता है।

इस प्रकार रोगजनित वेदना भी आयु का उपक्रमण करके उसे शीघ्र समाप्त कर देती है।

(५) पराघात—पाँचवाँ कारण पराघात है। भगवान् ने फर्माया है कि कोई किसी को बंदूक या छुरे से मारे और तीसरा आदमी, जिसका हृदय कोमल और भावुक हो, इस दृश्य को देख रहा हो तो उसके प्राणपखेरू उड़ जाते हैं। जिस पर आघात किया गया है, वह चाहे बच भी जाय तो भी देखने वाला कई बार मर जाता है।

राम और लक्ष्मण में अत्यधिक गाढ़ प्रेम था। उन्हें दो शरीर और एक प्राण कहना चाहिए। ऐसा प्रेम न होता तो राम के वनवास के समय वह क्यों साथ जाते ? उन्हें वनवास के लिए किसी ने बाधित नहीं किया था, वरन् स्वयं रामचन्द्रजी ने वन में न चलने का आग्रह किया था, फिर भी लक्ष्मणजी न माने। वे राम की जुदाई बर्दाश्त न कर सके। इसी प्रकार राम को भी लक्ष्मण के प्रति अत्यन्त घनिष्ठ और सच्चा प्रेम था। इन दोनों भाग्यशाली भाइयों के भ्रातृप्रेम की चर्चा इस पृथ्वी पर ही नहीं, स्वर्ग में भी होती थी। एक बार वहाँ इनकी चर्चा छिड़ गई तो देवताओं ने कहा-दोनों भाइयों में इतना प्रेम है कि एक को देखे बिना दूसरे की जिंदगी रहना कठिन है। तब एक देवता परीक्षा करने आया। राम उस समय हवाखोरी करने गये थे और लक्ष्मण महल में थे। देवता ने कृत्रिम रूप धारण करके कहा-हाय, रामचन्द्रजी स्वर्गवासी हो गये।

यह वाक्य सुनते ही लक्ष्मण के हृदय में जैसे जोरदार बिजली का झटका लगा। उनके मुख से केवल 'हा !' शब्द निकल पाया और वे सदा के लिए मौन तथा निश्चेष्ट हो गये। उनकी आयु का अन्त आ गया। इस प्रकार दूसरे की मृत्यु का समाचार सुनकर उनकी मृत्यु हो गई।

श्रीकृष्ण महाराज का निशान देखा तो सोमिल ब्राह्मण खड़ा-खड़ा ही धरती पर गिर पड़ा और मर गया, क्यों कि उसने गजसुकुमाल मुनि की हत्या की थी।

(६) स्पर्श—अकाल मृत्यु का छठा कारण स्पर्श है। यह भी आयु के उपक्रमण का कारण बन जाता है। किसी को साँप ने काट खाया, गुहरे ने डँस लिया, जहरीले बिच्छू ने डंक लगा दिया तो ऐसा कारण पाकर मनुष्य खलास हो जाता है। ऐसी घटनाएँ जगत् में आये दिन होती रहती हैं। इन पर अधिक प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं।

(७) श्वासोच्छ्वास—सातवाँ कारण श्वासोच्छ्वास का निरोध होना है। जीवन श्वासोच्छ्वास पर टिका है। जरा-सी देर के लिए श्वास का आना-जाना बंद हुआ कि मनुष्य का प्राणान्त हो जाता है। कोई किसी की नाक बंदकर दे अथवा गला दबा दे कि जिससे श्वास निकलना बंद हो जाय तो मनुष्य मर जाता है।

इन सात उपक्रमों में से किसी भी एक या अनेक उपक्रम से मनुष्य नियत काल-अवधि से पूर्व ही मर जाता है। मगर यह कारण उसी की आयु को कम कर सकते हैं जिसने सोपक्रम आयु बांधी हो। निरुपक्रमी आयु किसी भी निमित्त से कम नहीं हो सकती। भगवान् महावीर को चंडकौशिक सर्प ने डँस लिया। चंडकौशिक अत्यन्त भयानक विषधर था। उसकी फुंकार से आस-पास के वृक्ष भी झुलस कर सूख गये। भला कोई साधारण मनुष्य या अन्य जन्तु उसके डंस लेने पर बच सकता था? मगर तीर्थंकर भगवान् ही थे कि उनका बाल भी बांका न हो सका।

तो निरुपक्रम आयु को विष, शस्त्र, वेदना आदि कोई भी कारण कम नहीं कर सकता। सोपक्रम आयु कम हो सकती है।

अगर निमित्त मिल जाएँ तो वह कम हो जाती है और निमित्त न मिलें तो कम नहीं होती ।

कई लोगों का खयाल है कि आयु घट नहीं सकती । जिस जीव ने जितनी आयु बाँधी है, वह उतनी पूरी भोगता है। किसी अपेक्षा से यह धारणा सही है और किसी अपेक्षा से सही नहीं भी है। वास्तव में जीव ने आयुकर्म के जितने दलिकों का बंध किया है, उसे उतने भोगने ही पड़ते हैं, इस अभिप्राय से उनकी धारणा सही है। परन्तु वे दलिक जितने समय में भोगने हैं, उतने ही समय में भोगने होंगे, यह धारणा सही नहीं है। अनेक वर्षों में भोगे जाने वाले आयुकर्म के दलिक अन्तमुहूर्त्त जितने थोड़े-से समय में भी तीव्र वेग से भोग लिये जाते हैं। यही कारण है कि नियत कालिक अवधि से पूर्व ही समस्त आयु के दलिक क्षीण हो जाते हैं और यही जीव का अकाल में मरण होना कहलाता है।

एक निमित्त मिल गया था मुनिवर गजसुकुमाल को। वह निमित्त था सोमिल ब्राह्मण। जिस दिन उन्होंने दीक्षा अंगीकार की, उसी दिन चौथे प्रहर में वे भगवान् अरिष्टनेमि को वन्दना करके बोले-भगवन् ! ऐसा कोई उपाय बतलाइए जिससे मैं शीघ्र मुक्ति प्राप्त कर सकूँ ।

भगवान् अपने ज्ञान में उनका समग्र भविष्य जान रहे थे, मगर उसके विषय में कुछ बोले नहीं ।

तब गजसुकुमाल मुनि ने कहा—प्रभो ! मैं श्मशान में जाकर ध्यान करना चाहता हूँ ।

भगवान् बोले—'जहासुहं देवाणुप्पिया !'

भगवान् को पता था कि माता देवकी के हाथ का भोजन करके दीक्षित हुए गजसुकुमाल मुनि किसी दूसरे के हाथ का भोजन करने वाले नहीं। ये हीरों-पन्नों के महल और शय्या छोड़ कर आये हैं तो जमीन पर सोने वाले नहीं हैं।

तो भगवान् को वन्दना करके गजसुकुमाल मुनिराज श्मशान में पहुँचे और साधु की बारहवीं पडिमा धारण करके ध्यान में लीन हो गये। नासाग्र भाग पर दृष्टि केन्द्रित करके खड़े हो गये।

साधु रोटियों के लिए नहीं बनते। कर्मों को काट कर मुक्ति प्राप्त करने के लिए बनते हैं। सिर्फ मोक्ष का रास्ता काटने के लिए उन्हें आहार लेना पड़ता है। साधुवृत्ति जीवन भर के लिए होती है। इसमें विश्राम का काम नहीं। महीना दो महीना पाल कर ही नहीं चले जाना है। कोई आदमी गेहूँ या मक्की आदि का बोझ लेकर चलता है और थक जाने पर उसे उतार कर नीचे रख देता है और थोड़ी देर विश्रान्ति ले लेता है, मगर इस साधुजीवन में विश्रान्ति के लिए कुछ भी अवकाश नहीं है। निरन्तर सावधान और सतर्क रहकर संयम का भार वहन करना पड़ता है, साधुवृत्ति अंगीकार करते समय 'जावजीवं' कहना पड़ता है, 'जावनियमं' कहने से काम नहीं चलता।

तो गजसुकुमाल मुनि भी मुक्ति प्राप्त करने के महान् ध्येय को समक्ष रखकर मुनि बने थे। अपनी दीक्षा के दिन ही वे श्मशान में प्रतिमावहन करने के लिए चल दिये और ध्यानस्थ होकर खड़े हो गये!

इस प्रतिमा में तीन बातों में से कोई बात होई है। या तो देव, मनुष्य या तिर्यंच का उपसर्ग होता है। अगर इस उपसर्ग के समय साधक अविचल रहा तो अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान अथवा

केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है और यदि डिग जाय तो पागल हो जाता है ।

गजसुकुमाल मुनि ध्यान धारण करके खड़े हैं। वह कोई साधारण व्यापारी नहीं थे, बहुत बड़ा व्यापार करने के लिए उद्यत हुए थे। बड़े व्यापारी को बड़ी जोखिम उठानी पड़ती है। मुनिराज उसके लिए तैयार थे। उन्हें अपने सामर्थ्य पर भरोसा था। ऐसा न होता तो ज्ञानी प्रभु उन्हें रोक सकते थे।

तो संध्या का समय था। सूर्य अस्ताचल पर पहुँच चुका था। सूर्य की लालिमा सर्वत्र फैली हुई थी। वह ऐसी जान पड़ती थी मानों मुनिराज की आत्मा में से पूर्वसंचित राग बाहर निकल कर फैल गया हो।

इसी समय सोमिल ब्राह्मण उधर होकर नगर की ओर लौट रहा था। वह पहले से ही जंगल में चला गया था और हवन के लिए समिधाएँ लेकर लौट रहा था। गजसुकुमार के साथ उसकी लड़की का विवाह होना निश्चित हो चुका था। अकस्मात् उसकी दृष्टि उन पर पड़ी। देख कर वह चकित रह गया। उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हो रहा था। उसने गौर से देखा और पहचान गया कि यह तो मेरा भावी जामाता गजसुकुमार ही है! मगर यह कैसा छल! कैसा दंभ! मेरे साथ और मेरी लड़की के साथ घोर विश्वासघात! एक निर्दोष कन्या की जिंदगी के साथ इतना निर्दय उपहास!

सोमिल की आत्मा जल उठी। वह क्रोध से उन्मत्त हो गया। उसने कहा-मेरी कुंवारी लड़की को विधवा बनाने वाले इस दंभी को पूरा मजा चखाना चाहिए। इसने घोर दुष्टता की है। मेरी प्रतिष्ठा को मिट्टी में मिला दिया है।

वह पास के किसी जलाशय से चिकनी गीली मिट्टी लाया और मुनिराज के मस्तक पर इस प्रकार जमा दी कि पाल बँध गई। फिर जलते हुए मुर्दे की चिता में से दहकते हुए अंगार भर लाया। वह अंगार उस ब्राह्मण ने मुनिराज गजसुकुमार के मस्तक पर उड़ेल दिये।

मुनिराज ने सोचा—कहीं ऐसा न हो कि मेरा मस्तक हिल जाय और एक भी अंगार नीचे गिर कर किसी जीव को जला डाले। इस दयाभावना से उन्होंने अपना सिर निश्चल रक्खा और परम समभाव के साथ उस वेदना को सहन किया। उनका मस्तक इस प्रकार खदबद-खदबद करने लगा जैसे खिचड़ी पक रही हो। मगर मुनिवर एकदम शान्त हैं।

सोमिल के हृदय में स्वतः भय का प्रादुर्भाव हुआ। भय-भीत होकर वह बड़ी तेजी के साथ वहाँ से चल दिया। मुनिराज सोचते हैं:—

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं, न युवैतानि पुद्गले॥
जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्यः, इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किंचित्, सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥

तीन काल में भी कभी मेरी मृत्यु नहीं हो सकती। फिर मुझे डर क्या है? मुझे कोई व्याधि स्पर्श ही नहीं कर सकती तो व्यथा कैसे हो सकती है?

जीव अलग है और पुद्गल अलग है; बस यही असली तत्त्व की बात है; शेष सब इसी का विस्तार है।

सन्तः कायादयो भिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः
नाहमेषां किमप्यस्मि, ममाप्येते न किंचन

यह शरीर, इन्द्रियाँ और मन आदि संसार के सभी पदार्थ मुझसे भिन्न हैं और मैं वास्तव में इन सब से भिन्न हूँ। मैं इनका कुछ नहीं हूँ और यह मेरे कुछ नहीं होते। शरीर जलता है तो जले मैं अमूर्त्तिक ज्ञानानंदमय चेतन हूँ। अग्नि मुझे नहीं जला सकती। यह अंगार मेरे असंख्य आत्मप्रदेशों में से एक भी प्रदेश को कम नहीं कर सकते। मैं अमर, अव्याबाध, नित्य, शाश्वत सत्ता हूँ। अनन्त आनन्द का स्वामी हूँ। यह मेरी ममता जल रही है, मेरी वेदना जल रही है, मेरी अनादिकालीन भ्रान्ति जल रही है।

मैं अखंड हूँ, अविनाशी हूँ, अजर हूं, अमर हूँ और नित्य चैतन्यमय हूं यह शरीर पुद्गलों का पिंड है। इसके साथ मेरा कोई नाता नहीं, कोई संबंध नहीं। इसका स्वभाव भिन्न है, मेरा स्वभाव भिन्न है।

इस प्रकार की उज्ज्वल धारणा मुनिराज के चित्त में उत्पन्न हुई। वे सातवें से आठवें गुणस्थान में पहुँचे। शुक्लध्यान जागृत हुआ। फिर नौवें, दसवें और बारहवें गुणस्थान में पहुंचे। केवलज्ञान और केवलदर्शन की अनन्त ज्योति प्रकट हो गई। सर्वज्ञ और सर्वदर्शी पद को प्राप्त हुए। मगर इस गुणस्थान में भी वे अधिक देर न ठहर कर चौदहवें गुणस्थान पर आरूढ़ हो गये। वहाँ अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँच स्वरों का उच्चारण करने में जितना काल लगता है, उतने काल तक ठहर कर और शेष रहे चारों अघातिया कर्मों को भी नष्ट करके निरंजन निराकार पद को प्राप्त हो गये। उनकी आत्मा अनन्त सुख का स्वामी बन गई। वे मोक्ष

धाम में पहुंचे और उनका शरीर जमीन पर पड़ा। उसी समय देवों ने उनके शरीर पर पुष्पों की वर्षा की और रात्रि में ही निर्वाण-महोत्सव मनाया।

रात्रि समाप्त हुई। कृष्ण महाराज के मन में अपने लाड़ले लघुभ्राता का दर्शन करने की तीव्र उत्कंठा जाग रही थी। सूर्योदय होते ही स्नान आदि प्रभातकालीन कृत्यों से फारिग होकर सवारी तैयार करवाई। तत्पश्चात बलदाऊजी के साथ वह भगवान् अरिष्टनेमि और मुनि गजसुकुमाल के दर्शन करने के लिए नगाड़े-निशान के साथ रवाना हुए। भगवान् के पास पहुँचे तो फूलमाला वगैरह अलग करके अन्दर गये। भगवान् के दर्शन किये। उनके अन्तेवासी अन्य साधुओं के भी दर्शन किये। मगर इधर-उधर चारों ओर दृष्टि दौड़ाने पर भी कहीं गजसुकुमाल मुनि न दिखाई दिये।

जब मुनिराज दिखाई न दिये तो कृष्ण महाराज ने भगवान् से पूछा—प्रभो! मेरे लघुभ्राता और आपके लघु शिष्य गजसुकुमाल कहाँ हैं? वे कहीं दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं।

भगवान् ने गंभीर भाव से कहा—वे जिस प्रयोजन की सिद्धि के लिए निकले थे, उसे सिद्ध कर चुके हैं।

कृष्णजी—भगवन्! समझ नहीं सका। आपका अभिप्राय क्या है?

भगवान् का उत्तर सुनकर कृष्णजी के चित्त में कुछ खलबली मच गई थी। एक प्रकार की व्याकुलता सी उत्पन्न हो गई थी। अतएव स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने उक्त प्रश्न किया।

भगवान् ने फर्माया—सायंकाल गजसुकुमाल मुनि मेरी अनुमति पाकर श्मशान में ध्यान करने गये थे। वहाँ उन्हें अचानक ही एक सहायक मिल गया। उसने ऐसी सहायता दी कि मोक्ष प्राप्त हो गया।

कृष्णजी—भगवन्, वह सहायक कौन था? उसने कैसे क्या सहायता दी?

भगवान् ने पूरी बात कह सुनाई। यह सुनकर कृष्णजी क्रोध से काँप उठे। बोले-उस निर्दय को तनिक भी दया न आई? हाय, मेरे सुकुमार भाई ने उन अंगारों को कैसे बर्दाश्त किया होगा? किस प्रकार उनके प्राण निकले होंगे? आह! एक ही रात्रि में यह क्या हो गया! मैं उनकी कुछ भी सेवा-सहायता न कर सका। मेरी सब शक्ति निकम्मी सिद्ध हुई। मेरा बल बेकार हो गया।

उसी समय महलों में समाचार पहुंच गया कि गजसुकुमाल मुनि निर्वाण प्राप्त कर चुके। समाचार पहुँचते ही महारानी देवकी के शोक का पार न रहा। समग्र राज परिवार दुःख के सागर में डूब गया। दास-दासियों को भी गहरा आघात लगा।

उस समय भगवान् अरिष्टनेमि ने यदुकुल को संबोधन किया। बतलाया-शोक करने की आवश्यकता नहीं। गज मुनि कृतार्थ हुए हैं। धन्य हैं वे जो शीघ्र ही निर्वाण के भागी हुए। उन्होंने मुझ से भी पहले सिद्धि प्राप्त कर ली। उनके लिए शोक क्यों मनाते हो? वे अनन्त अक्षय अव्याबाध सुख के भागी हुए हैं तो उनके लिए दुःख मनाने की क्या आवश्यकता है? शरीर छूटने के लिए कुछ न कुछ निमित्त तो मिलता ही है। यह निमित्त न मिलता तो कोई दूसरा निमित्त मिलता। आखिर शरीर तो छूटने

ही वाला था। ऐसा विचार कर सब लोग शान्ति धारण करो। शोक, संताप करके अपना अहित न करो।

इस प्रकार यादव कुल को समझा कर भगवान् ने धैर्य बँधाया और उन्हें आर्त्त-रौद्र ध्यान से मुक्त किया।

भगवान् ने कहा—हे वासुदेव, चिन्ता क्यों करते हो? तुम फिर अवतार लोगे और मेरे जैसे तीर्थंकर बनोगे। देवकी महारानी से भी कह दिया—तुम भी तीर्थंकर बनोगी। बलभद्रजी और रोहिणी को भी भावी तीर्थंकर होने की सूचना दे दी।

भगवान् अरिष्टनेमि के समय में इन्हीं चार जीवों ने तीर्थंकर गोत्र का बंध किया था।

भाइयो! इस प्रकार निमित्त मिलने से आयु का अन्त आ जाता है। जो जन्मा है उसे मरना तो है ही परन्तु मरना इस प्रकार चाहिए कि फिर जन्म न लेना पड़े।

स्पष्ट है कि इस जीवन का भरोसा नहीं। किसी भी समय कोई भी निमित्त मिलने पर जीवन का अन्त आ सकता है। अतएव भगवान् की भक्ति और स्तुति करके इसे सफल बना लो। ऐसा अवसर पुनः अत्यन्त दुर्लभ है। जो भव्य जीव परमात्मा की आराधना करके इसे सफल बनाएँगे उन्हें आनन्द ही आनन्द प्राप्त होगा।

ब्यावर
२३-११-४७

१३

श्रद्धा-सामर्थ्य



स्तुतिः—

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्,
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात् ।
धाताऽसि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ॥

भगवान् ऋषभदेव की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

महाप्रभो ! आपके केवलज्ञान की अर्चा देवों ने की, अतएव आप बुद्ध भगवान् हैं-वास्तव में आप ही सच्चे बुद्ध है, क्योंकि विबुधगण आपके बोध की पूजा करते हैं; केवलज्ञान की उत्पत्ति के समय महोत्सव मनाते हैं ।

प्रभो ! आप शंकर हैं, क्यों कि प्राणी मात्र को सुख देने वाले हैं। जो प्राणी मात्र को सुख पहुँचाता है, वह सच्चा शंकर है। भगवान् ऋषभदेव ने प्राणी मात्र को हिंसा का निषेध करके उन्हें दुःख से बचाने का उपदेश दिया और अनन्त सुख की प्राप्ति का मार्ग बतलाया। अतएव भगवान् ही वास्तव में शंकर हैं।

प्रभो ! आप सच्चे धाता-विधाता हैं। इस कर्मभूमि के प्रारंभ में जब मनुष्य धर्ममार्ग से सर्वथा अनभिज्ञ थे और मोक्ष तथा मोक्षमार्ग को नहीं जानते थे, तब आपने ही सर्वप्रथम प्रव्रज्या धारण करके, कठिन तपस्या करके और केवलज्ञान-दर्शन प्राप्त करके मोक्ष का मार्ग प्रकट किया था। आपने ही सर्व प्रथम उद्घोष किया था—

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

अर्थात्—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र-तीनों मिल कर मोक्ष के मार्ग हैं।

इन तीनों को रत्नत्रय कहते हैं। आपके लिए हीरा, पन्ना, माणिक और मोती आदि रत्न हैं और उन्हीं को पाकर आप अपने को धन्य मानते हैं; परन्तु मुमुक्षु जीवों की दृष्टि में वह सब पुद्गल हैं। साधारण पत्थर और मिट्टी का ढेला जिस कोटि में है, हीरा-पन्ना भी उसी कोटि में हैं। आपकी दृष्टि में उनका कितना ही मूल्य हो, पर ज्ञानियों की दृष्टि में उनका क्या मूल्य है ? जो वस्तु आत्मा के कल्याण में साधक नहीं है, उसकी कोई कीमत नहीं है। आपके रत्न आत्म कल्याण में साधक तो हैं ही नहीं, उलटे बाधक होते हैं। उन रत्नों की चमक आपकी आँखों में ऐसी चकाचौंध उत्पन्न कर देती है कि आप वास्तविक कल्याणमार्ग को-मुक्तिमार्ग को-

देख नहीं पाते। वे रत्न यदि आपके कब्जे में आये हुए हों तो आपके अन्तःकरण में लालच पैदा करते हैं, ममत्व को जगाते हैं। उन्हें कोई ले न जाय, इस प्रकार की भीति उत्पन्न करते हैं। आपका चित्त उनकी सुरक्षा के लिए व्याकुल बना रहता है। और यदि आपके पास न होकर आपके किसी पड़ौसी के पास हुए तो आपके मन में ईर्षा डाह और द्वेष उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार दोनों स्थितियों में आपके लिए वे हानिकारक ही सिद्ध होते हैं।

और उनसे आपका लाभ क्या होता है? वस्त्र सर्दी--गर्मी से बचा कर उपकार करते है। लज्जा की रक्षा करते हैं। अन्न-पानी से प्राणों का उपकार होता है और जीवन की रक्षा होती है। लेकिन रत्न क्या काम आते हैं? आपके पास करोड़ों के रत्न हों और आप भूख से पीड़ित हों तो क्या रत्न खाकर भूख मिटा सकते हैं? पानी की जगह मोती का पानी पिया जा सकता है? वे आपका तन ढंक सकते हैं?

'नहीं!'

तो आपके रत्न, जीवन की किसी भी आवश्यकता की साक्षात पूर्ति नहीं कर सकते। इसी कारण अर्थशास्त्री उन्हें असली अर्थ तक नहीं मानते।

आप कह सकते हैं कि हीरा आदि रत्नों से समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। मगर प्रतिष्ठा प्राप्त होने से क्या आत्मा का कुछ उपकार हो जाता है? आत्मा के किसी गुण की वृद्धि होती है? नहीं यह कुछ तो होना नहीं, वरन् अहंकार अवश्य उत्पन्न हो जाता है, जिससे आत्मा की अधोगति होती है।

इस प्रकार भौतिक रत्न प्रत्येक दशा में अहितकर ही सिद्ध होते हैं। सच्चे रत्न तो वही तीन हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

और सम्यक्चारित्र। यह तीन रत्न किसी भी प्रकार से आत्मा का अहित नहीं करते, बल्कि सब प्रकार से हित ही करते हैं। कहना चाहिए कि इनके बिना आज तक न तो किसी का कल्याण हुआ है, न होता है और न हो सकेगा।

कई लोगों का खयाल है कि मुक्ति प्राप्त करने के लिये अकेला ज्ञान ही काफी है और कुछ कहते हैं कि ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, अकेली क्रिया से ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। परन्तु वास्तव में यह दोनों ही एकान्त हैं और भ्रम हैं। औषध के ज्ञानमात्र से बीमारी दूर नहीं होती। नीरोग होने के लिए औषध को जानना और सेवन करना दोनों आवश्यक हैं। इसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के लिए भी ज्ञान और चारित्र की आवश्यकता है। सम्यग्ज्ञान के ग्रहण करने से सम्यग्दर्शन का भी ग्रहण हो जाता है, अतएव उसके विषय में यहाँ चर्चा नहीं की गई है, परन्तु उसकी आवश्यकता कम नहीं है। सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान और चारित्र दोनों ही मिथ्या रहते हैं और उनसे मोक्ष नहीं हो सकता।

इसीलिए भगवान् ऋषभदेव ने इस कर्मयुग की आदि में बतलाया कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है। इस प्रकार मोक्ष के मार्ग का विधान करने के कारण भगवान् ऋषभदेव ही वास्तविक विधाता हैं।

जब भगवान् अनन्तज्ञानी हैं, प्राणीमात्र को सुख उपजाने वाले हैं और मुक्ति का पथ प्रदर्शित करने वाले हैं तो स्पष्ट है कि वही पुरुषोत्तम हैं। पुरुषों में जो उत्तम हो वह पुरुषोत्तम कहलाता है। मगर यह शब्द विष्णु के अर्थ में भी रूढ़ है। भगवान् ज्ञान रूप से सर्वव्यापक होने के कारण विष्णु भी हैं और पुरुषोत्तम तो हैं ही।

जब ऋषभदेव भगवान् गृहस्थावस्था में थे तो उस समय की समस्त प्रजा में आप ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी थे। युगलिया बदलती हुई परिस्थिति में पद--पद पर अनेक अड़चनें अनुभव करते थे और उस समय भगवान् के पास दौड़-दौड़ कर आते थे। भगवान् ही अपने अतिशय ज्ञान के बल से परम करुणा भाव से प्रेरित होकर उन्हें नया मार्ग सुझाते थे। जब गृहत्याग कर दीक्षित हुए तब भी आप ही सर्वश्रेष्ठ त्यागी रहे। इस प्रकार प्रत्येक दशा में आप मुकुटमणि होकर ही रहे थे।

'नमोत्थुणं' के पाठ में भी भगवान को 'पुरिसुत्तमाणं' विशेषण दिया गया है। वास्तव में तीनों लोकों में तीर्थंकर से बढ़ कर उत्तम पुरुष अन्य कोई नहीं हो सकता।

ऐसे भगवान् ऋषभदेव को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

भाइयो! भगवान् ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर हुए हैं और अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर हुए हैं। अभी आप जिनकी वाणी सुनते हैं, वह मूलतः भगवान् की वाणी है। यह द्वादशांगी वाणी है। द्वादशांगी में तीसरा अंग श्रीठाणांगजी सूत्र है। उसके सातवें ठाणे में कल बतलाया गया था कि सात कारण मिलने पर जीव का अकाल में भी शरीर से वियोग हो जाता है। उसके आठवें ठाणे में क्या बतलाया गया है? तीर्थंकर भगवान् फर्माते हैं कि जिस साधु में आठ विशेषताएँ हों, वह अकेला विहार कर सकता है।

एकाकी विहार की पात्रता प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम दर्शनसम्पन्नता होना आवश्यक है। दर्शनसम्पन्नता का अर्थ है—श्रद्धान की दृढ़ता। विहार करते समय मुनि को नाना स्थानों में नाना प्रकार के व्यक्ति मिलते हैं, जिनकी श्रद्धा अलग-अलग प्रकार

की होती है। ऐसे समय में अगर साधु की श्रद्धा सुदृढ़ न हो तो उसके फिसल जाने की संभावना रहती है।

फिसल जाना अर्थात् श्रद्धा से च्युत होना कई प्रकार से हो सकता है। जिन-प्रणीत मार्ग पर श्रद्धा न रहना भी फिसल जाना है और विपरीत श्रद्धा हो जाना भी फिसल जाना है। जिसके अन्तःकरण में परिपूर्ण और प्रगाढ़ श्रद्धा नहीं है, वह किसी भी प्रकार से च्युत हो सकता है।

सम्पूर्ण आराधना का आधार सम्यक्श्रद्धा है। मोक्ष के लिए किये जाने वाले अनुष्ठान सम्यग्दर्शन की विद्यमानता में ही सफल होते हैं, सम्यग्दर्शन के अभाव में कोई भी क्रिया सफल नहीं हो सकती।

जिस प्रकार साधु के लिए सम्यग्दर्शन की प्रगाढ़ता आवश्यक है, उसी प्रकार श्रावक के लिए भी है। श्रावकधर्म का पालन भी सम्यक्त्व के बिना असम्भव है। श्रावक यदि श्रद्धावान् न हो तो वीतराग देव के द्वारा प्रतिपादित मोक्षमार्ग की साधना नहीं हो सकती। सम्यग्दर्शन मोक्ष रूपी महल की पहली सीढ़ी है। जो पहली सीढ़ी पर ही पांव न रक्खेगा या पहली सीढ़ी पर पांव रख कर नीचे फिसल जायगा, उससे अगली सीढ़ीयों पर चढ़ने की क्या आशा की जा सकती है? जिसको वीतराग देव पर श्रद्धा नहीं है, वीतराग की वाणी पर विश्वास नहीं है, जिसने आत्मा के स्वरूप को जाना-पहचाना नहीं और उस पर श्रद्धान नहीं किया है, वह मोक्षमार्ग में अग्रसर नहीं हो सकता। अतएव सबसे पहले सम्यग्दर्शन को प्राप्त करना चाहिए और उसे मजबूत बनाना चाहिए।

इस भ्रम को छोड़ दो कि जैन कुल में जन्म लेने से आप सम्यग्दृष्टि हो गये। इस खयाल में भी मत रहो कि किसी के देने से

आपको सम्यग्दर्शन हो जायगा। नहीं, सम्यग्दर्शन आपके आत्मा की ही परिणति है, एक अवस्था है। आपकी श्रद्धा, रुचि या प्रतीति की निर्मलता पर सम्यग्दर्शन का होना निर्भर है। शुद्ध रुचि ही सम्यक्त्व को जन्म देती है। पर शुद्ध रुचि को उत्पन्न करने के लिए अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय, क्षयोपशम या उपशम करना पड़ता है और साथ ही दर्शनमोह की प्रकृतियों को भी जीतना पड़ता है। जब तक आपके भीतर तीव्रतम कषाय मौजूद रहेगा, तब तक सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं हो सकता। और सम्यग्दर्शन के अभाव में आप मोक्ष की आराधना करने को भी समर्थ नहीं हो सकते। इसलिए भाइयो! सब से पहले अपनी श्रद्धा को शुद्ध बनाओ।

सद्धा परमदुल्लहा।

संसार में सबसे कठिन काम है शुद्ध श्रद्धा प्राप्त कर लेना। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति में इतनी कठिनाई नहीं है। सम्यग्दर्शन के अभाव में जीव अनादिकाल से भवभ्रमण कर रहा है। और अनन्त काल तक भ्रमण करेगा, मगर जिसने सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया है, वह अगर ज्ञान और चारित्र से रहित है और कदाचित् प्राप्त किया हुआ सम्यक्त्व नष्ट भी हो गया है, तो भी उस जीव को अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण नहीं करना पड़ेगा। वह एक नियत अवधि में अवश्य मुक्ति प्राप्त कर लेगा। यह सम्यग्दर्शन की महान् महिमा है। सम्यक्त्वरत्न से सुशोभित तिर्यंच भी मनुष्य से श्रेष्ठ है और सम्यक्त्व हीन मनुष्य पशु के समान है। जैसे पशु को हिताहित का विशिष्ट विवेक नहीं होता, इसी प्रकार सम्यक्त्वविहीन मनुष्य को भी वास्तविक विवेक नहीं होता।

अभिप्राय यह है कि सम्यग्दर्शन के बिना न साधुधर्म का पालन हो सकता है और न गृहस्थ धर्म का ही। अतएव साधु और गृहस्थ दोनों की शुद्ध श्रद्धा होनी चाहिए। श्रद्धावान न हो तो वीतराग देव का मार्ग रूपी रत्न हाथ से निकल जाता है और मनुष्य कंगाल हो जाता है। जिसे शुद्ध श्रद्धा की सम्पत्ति प्राप्त है वह श्रीमान् है। जो शुद्ध श्रद्धा से भ्रष्ट हो जाता है वह कंगाल है।

कई लोग कहते हैं कि पहले तो इनकी श्रद्धा बहुत शुद्ध थी, लेकिन अब नहीं है। मगर सच पूछो तो उन्होंने श्रद्धा पकड़ी ही कब ? यदि पकड़ लेते तो समस्त इन्द्रों के आ जाने पर भी वह नहीं छूट सकती थी। वास्तव में वह दंभी आदमी था। अगर सच्ची श्रद्धा वाला होता तो अरणक, कामदेव और चूलणीपिया आदि की तरह देवताओं का परीषह होने पर भी अडिग बना रहता। इस प्रकार की अडिगता जिसमें हो वही सच्ची श्रद्धा है।

श्रद्धा उत्पन्न हो जाय तो फिर कहना ही क्या है ? देखो तुंगिया नगरी के श्रावकों का शास्त्र में वर्णन आया है। देवता उन्हें डिगाने आये तो भी वे नहीं डिगे। ऐसे लोग ही श्रद्धावान् कहला सकते हैं।

इसी प्रकार साधु की श्रद्धा भी खूब पक्की होनी चाहिए। ऐसा नहीं कि गृहस्थ का रोटियाँ खाना है तो उसकी हाँ में हाँ मिला दे। जैसा वह कहे वैसे ही गीत गाने लगे! अगर कोई ऐसा करता है तो समझना चाहिए कि वह आत्मकल्याण के लिए साधु नहीं बना है, वरन् पेट भरने के लिए बाबा बना है।

ऐसे लोग सचमुच पेटू हैं, उदरंभरी है। वे इसलिए साधु बन गये हैं कि बिना कमाये सीधी रोटियाँ मिलती रहें। मेला भरा

है और उसमें हलवाइयों की दुकानें लगी हैं। बढ़िया-बढ़िया मिठाइयाँ सजा कर रक्खी गई हैं। उन्हें देखकर अभागा कंगला सोचता है-कब खाने को यह मिठाइयाँ मिलेंगी!

सर्राफ की दुकान देखकर सोचता है-कब कंठा पहनने का सौभाग्य प्राप्त होगा ? इसी प्रकार मँगती स्त्री सोचती है-न जाने कब मेरा भाग्य जागेगा और यह सोने के गोखरू पहने को मिलेंगे ?

इसी प्रकार जो साधु मँगते के समान होता है, वह भी दूसरों की आकर्षक वस्तुएँ देख कर भूरता है। कोई चिल्लादार बढ़िया पगड़ी पहन कर आया तो वह सोचता है-मैंने ऐसी पगड़ी कभी नहीं बांधी ! कभी किसी को मोतियों का कंठा पहने देखा तो अपने मन में दीनता का अनुभव करता है और सोचता है-अफसोस ! ऐसा कंठा मुझे कभी नसीब न हुआ !

इस प्रकार जिसकी विषयवासना शान्त नहीं हुई है, जिसका अन्तःकरण लालसा से अभिभूत है, वह साधु कंगला के समान है, बल्कि कंगला से भी कुछ गया बीता ही उसे समझिए।

श्रद्धावान् साधु ऐसे प्रसंग पर और ही प्रकार का विचार करता है। उसकी दृष्टि वास्तविकता की ओर झुकी रहती है। वह अपनी रंगीन दृष्टि से पदार्थों को रंग कर नहीं देखता, वरन् उन्हें नग्न रूप में, असली रूप में देखता है। अतएव वह सोचता है कि-मैं अनन्त बार देवलोकों में उत्पन्न हो चुका हूँ। वहाँ के कामभोग मानवीय कामभोगों की तुलना में असंख्य गुणा उत्तम हैं। दिव्य कामभोगों की तुलना में मनुष्य के कामभोग तुच्छ, अति-तुच्छ और निस्सार हैं। मैंने अनन्त बार उन कामभोगों को लम्बे-लम्बे समय तक भोगा; पर अन्त में वे छूट गये और मैं कीट-पतंगों में जाकर उत्पन्न हुआ। उन भोगों से आत्मा की तृप्ति

नहीं हुई। यह ज्यों का त्यों लालायित बना रहा। जब दिव्य कामभोग भी इच्छा की पूर्ति नहीं कर सकते तो फिर साधारण मानुषिक कामभोग क्या तृप्ति कर सकेंगे? भोगों की अभिलाषा भोग भोगने से उसी प्रकार बढ़ती जाती है, जिस प्रकार ईंधन झौंकने से आग बढ़ती ही चली जाती है। इन भोगों के अन्त में दुःख के सिवाय और क्या पल्ले पड़ता है? तो क्या रक्खा है इन भोगों में! संसार के सभी पौद्गलिक पदार्थ आत्मा के लिए हितकारी नहीं है। थोड़े दिनों रह कर वे आत्मा को मूढ़ बना कर दूर हो जाते हैं।

मन्दसौर में एक श्रावक थे। उन्होंने अपनी असीम लालसा को सीमित करने के लिए धन की मर्यादा कर ली। मगर मर्यादा करने पर उनके पास धन बढ़ता ही गया। तब साधुओं ने उनसे कहा—आप सुखी श्रावक हैं और आपने धन की मर्यादा करली है। तब उसने कहा—मैं मुट्ठी भर--भर कर बाजार में फैंकता हूं, लेकिन खतम भी तो नहीं होता!

मगर थोड़े दिनों बाद पासा उलटा पड़ा। पूंजी समाप्त हो गई और बाजार का ऋण चढ़ गया। तब उनकी पत्नी ने अपने शरीर के जेवर उतार कर दे दिये और कहा—इससे ऋण मुक्त हो जाइए।

अपनी इस प्रकार बदली हुई अवस्था देखकर उस श्रावक ने कहा—कृष्ण महाराज की द्वारिका भी नहीं रही और महाप्रचंड रावण की लंका भी चली गई तो मेरी सम्पत्ति तो है ही क्या चीज! जब स्वर्ण के प्राकार से सुशोभित नगरी भी बिला गई तो मैं किस गिनती में हूँ?

इसे कहते हैं श्रद्धा ! श्रद्धा की परीक्षा समय पर ही होती है। विषम स्थिति में भी जो डिगती नहीं वही सच्ची और पक्की श्रद्धा है।

भाइयो ! जिसकी अन्तरात्मा में श्रद्धा जागृत हो जाती है, उसकी विचारधारा इतनी सही हो जाती है कि वह वास्तविक तत्त्व को ही देखता है। उसकी समस्त भ्रमणाएँ दूर हो जाती हैं। ऊपर-ऊपर से किसी बात पर विचार न करके वह तथ्य का ही विचार करता है। अगर उसके यहाँ बेटा-बेटी नहीं है तो वह दुखी नहीं होता। वह सोचता है-देश और समाज में इतने बहुत बालक हैं, बालिकाएँ हैं, वह सभी मेरे ही तो हैं। फर्क क्या है ? क्या कारण है कि एक घर में जन्म लेने के कारण सन्तान मेरी कहलाए और दूसरे घर में जन्म लेने से मेरी न कहलावे ! अगर दूसरे घर में जन्मी सन्तान मेरी नहीं हो सकती तो मेरे घर में जन्मी सन्तान भी मेरी कैसे कहला सकती है ?

आखिर मेरी और तेरी कहने का अधार क्या है ? क्या मेरी कहलाने वाली सन्तान मेरी आत्मा का उपकार कर सकती है ? मुझे अपने कर्मों के फलभोग से बचा सकती है ? मुझे स्वर्ग या मोक्ष में भेज सकती है ? तो फिर अपनी-पराई संतान में वास्तविक अन्तर क्या रहा ? यह सब तो कल्पना का खेल है। जिसने जिसे अपना समझ लिया वह उसका कहलाने लगा और जिसने जिसे पराया मान लिया वह पराया प्रतीत होने लगा। वास्तव में तो आत्मस्वरूप से भिन्न कोई भी जगत की वस्तु अपनी हो ही नहीं सकती।

सच्ची श्रद्धा क्या है ? वह कोई लड्डू अथवा कलाकंद नहीं है कि किसी ने परोस दिया और आपने खा लिया। श्रद्धा तो

वह आत्मिक ज्योति है जो अन्दर ही दीप्त होती है और उसका आलोक अत्यन्त उज्ज्वल होता है। उस ज्योति में वस्तु का वास्तविक स्वरूप प्रतिबिम्बित होने लगता है। उस समय धन धूल के समान दिखाई देने लगता है। श्रद्धावान् समझ जाता है कि यह धन मेरा त्राण नहीं कर सकता। मुझे कोई लाभ नहीं पहुँचा सकता। मेरे दुःखों का अन्त नहीं कर सकता। ज्यादा बढ़ जायगा तो इसकी रखवाली करनी पड़ेगी। यह धन मुझे अपना पहरेदार बना लेगा। उस ज्योति के जाज्वल्यमान होने पर भ्रम नहीं रहता, संशय मिट जाता है और विपर्यास का विनाश हो जाता है।

इस प्रकार की ज्योति आत्मा में जागृत होने पर ही संयम टिकता है। यह ज्योति न हो तो संयम पल ही नहीं सकता। कहा है—

संयमधारी महाराज, संयम में चित्त लगावना।

कई भाई दर्शन करने को आते हैं तो नई-नई पगड़ी, कुर्त्ता, कोट, चश्मा आदि धारण करके आते हैं। और जब श्रद्धाहीन महाराज उनकी ओर देखते हैं तो मन में रोते हैं और कहते हैं— मैंने तो ऐसे वस्त्र कभी पहने ही नहीं! मगर संयमधारी महाराज! ऐसी चीजों की तरफ चित्त को मत जाने दो।

बढ़िया मोगरे आदि का इत्र तेल-फुलेल आदि सुगंधित वस्तुएँ लगा कर गृहस्थ मुनिराज के पास आते हैं, जिनके सौरभ से मादकता का झरना सा बहता है। वह सुगंध नाक में पड़ती है तो श्रद्धाहीन साधु की नाक आनन्द का अनुभव करने लगती है। लेकिन यह क्यों नहीं सोचता कि तू भी तो बहुत फूलों की शय्या इत्र और सुगंधित पदार्थ भोग कर आया है। इन चीजों से तेरा क्या कल्याण होने वाला है!

संसार का ऐसा कौन-सा पुद्‌गल है जिसका उपभोग तूने नहीं किया है ? विश्व के कण-कण को अनन्त-अनन्त बार अनन्त-अनन्त रूप में तूने भोग लिया है। अब क्या शेष रह गया भोगने को ? यदि अब तक तुझे तृप्ति नहीं हुई तो क्या अब इस जीवन में भोगने से तृप्ति हो जायगी ? रे अज्ञानी जीव ! अपने मोह का त्याग कर। क्यों मन का नचाया नाचता है ? क्यों इन्द्रियों का गुलाम बन कर अपने भविष्य को संकटमय बनाता है ? यह विषय क्षण भर विकृत आनन्द देंगे तो चिरकाल पर्यन्त घोर यातनाओं के कारण बन जाएँगे।

वीतराग महापुरुषों की वाणी तूने सुनी है, पढ़ी है और समझी है। फिर भी तू इन कामभोगों के दुःखदायी परिणाम को नहीं समझ सका ? यदि यह परमपावनी जिनवाणी भी तेरी भोग-लालसा को नष्ट न कर सकी तो इस समग्र संसार में दूसरा कोई उपाय नहीं है तेरे उद्धार का। कोई दवा नहीं है तेरी बीमारी को मिटाने की। भाई परम पुण्योदय से तुझे यह स्थिति प्राप्त हुई है। इस स्थिति को प्राप्त करके तू गफलत में मत पड़। ठीक तरह वस्तु के स्वरूप का विचार कर और अपनी श्रद्धा को सही राह पर ले आ।

हे साधो ! अगर भोग-उपभोग संबंधी लालसा को तूने अपने हृदय-प्रदेश से समूल उन्मूलन न कर दिया तो तू सच्चे त्यागी का पद नहीं प्राप्त कर सकता। शास्त्र में स्पष्ट कहा है—

वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ॥

वस्त्रों को, गंध को, आभूषणों को, स्त्रियों और शय्या आदि को जो विवश होकर नहीं भोगते हैं, वे त्यागी का दर्जा नहीं पा सकते।

मन में भोगने की भावना बनी है, पर लोकलज्जा या संयोग न मिलने आदि किसी कारण से जो उपयुक्त भोगों का सेवन नहीं कर पाते, वे अपने आपको त्यागी भले प्रकट करें और दुनिया उनके वेष को देखकर भले साधु कहे, पर उसको हुंडी सिकरने वाली नहीं है। ज्ञानियों की दृष्टि में वे त्यागी नहीं हैं।

जे य कंते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठिकुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ॥

सच्चा त्यागी वही है जो स्वेच्छापूर्वक कमनीय और प्राप्त हुए भोगों का भी त्याग कर देता है। जो भोगों को भुजंग समझता है, विषयों को विष या विषधर मानता है और उनसे दूर रहता है, उनकी कामना को भी मन में उत्पन्न नहीं होने देता, वही सच्चे त्यागी का पद प्राप्त करता है।

मुनि गृहस्थ के घर गोचरी के लिए जाता है और वहाँ तरह-तरह की वस्तुएँ देख कर झूरता है, उसे वह मिल तो जाती नहीं, फिर क्यों नियत बिगाड़ता है? नियत बिगाड़ने से तेरा क्या लाभ होगा? अरे, मंगते को क्या कोई कंठा देता है? यह सब श्रद्धाहीनों की वृत्ति है।

जो श्रद्धावान् है, उसकी विचारणा निराली ही होती है। वह सोचता है—एक लाख योजन ऊँचे सुमेरु पर्वत के बराबर भी यदि तूने मिश्री खा ली तो भी तेरी जीभ सदा के लिए मीठी नहीं हो सकती। अब तक तूने कितना अन्न खाया है, कितना पानी

पिया है, कुछ हिसाब है? फिर भी भूख और प्यास नहीं मिटी तो पाव दो पाव गुलाबजामुन क्या तुझे सदा के लिए क्षुधाहीन बना देंगे?

इस प्रकार विचार कर ज्ञानी पुरुष दुनियावी चीजों की तरफ अपने मन को नहीं जाने देते और कदाचित् हठात चला जाय तो तत्काल उसे अपने काबू में कर लेते हैं।

चक्रवर्त्ती से बढ़कर भोग किसे प्राप्त हो सकते हैं? शालि-भद्र जैसे पुण्यशाली जीव के लिए स्वर्ग से वस्त्राभूषण आते थे। बत्तीस अप्सराओं को मात करने वाली पत्नियाँ थीं। जम्बूकुमार को भी किस वस्तु की कमी थी? मगर उन्होंने अपनी विराट सम्पत्ति को धूल के समान क्यों समझा? भोगोपभोगों का त्याग कर अनगारपन क्यों धारण किया? बड़े-बड़े सम्राट् और राजा आखिर इन कामभोगों से विरक्त होकर संयम की शरण में क्यों आये? उनके मुकाबिले में आज के रईसों के पास क्या है? फिर भी कुछ सोच-समझ कर ही वे त्यागी बने होंगे! तुमने उनकी जीवनगाथाएँ सुन कर क्या सार निकाला? क्या शिक्षा ग्रहण की? एक बार फिर विचार करो और सत्य तत्त्व को समझो।

भाइयो! इन बाह्य पदार्थों की पोल एक बार नहीं, हजारों बार खुल चुकी है। अन्त में यह धोखा देते हैं। सहायक नहीं होते, उपकारक नहीं होते, वरन् अपकार ही करते हैं। अतएव इन पौद्-गलिक पदार्थों पर से श्रद्धा हटाओ और आत्मा पर ही दृढ़ श्रद्धा जमाओ। आखिर तो अपनी ही वस्तु काम आएगी।

दूसरों के नेत्रों से आप देख नहीं सकते, दूसरे के कानों से आप सुन नहीं सकते; दूसरे की पाचनशक्ति उधार माँग कर आप

भोजन हजम नहीं कर सकते, इसी प्रकार दूसरे पदार्थों से आप सुख भी नहीं पा सकते। अपनी ही वस्तु काम आती है और अपनी वस्तु का अर्थ है आत्मा की सम्पत्ति। जो त्रिकाल में आत्मा को छोड़ कर कहीं अन्यत्र नहीं जा सकता और जिसके लिए किसी दूसरे का अवलम्बन लेने की आवश्यकता नहीं है, वह आपकी वस्तु है। कहा है—

एगो मे सासओ आया, नाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥

अर्थात्—ज्ञान और दर्शन जिसका स्वरूप है, वही एक मात्र आत्मा मेरा है। उस आत्मा के अतिरिक्त शेष सभी पदार्थ पराये हैं सब संयोग से मेरे कहलाते हैं, परन्तु मेरे हो नहीं सकते।

इस प्रकार की श्रद्धा जिसमें उत्पन्न हो जाती है वही अपना कल्याण कर सकता है। वही केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। जिसकी अन्तरात्मा में ऐसी श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई है, वे कदाचित् त्याग-वैराग्य के क्षेत्र में प्रवेश भी कर जाएँ तो भी टिक नहीं सकते। छोड़ कर भाग जाते हैं।

श्रद्धा का सुदृढ़ कवच जिसने धारण कर लिया है, उसे देव और दानव भी नहीं डिगा सकते। संसार की कोई भी शक्ति उसे पथभ्रष्ट नहीं कर सकती। वह साधु हो या श्रावक, अपने धर्म पर अटल बना रहता है।

कैसी भी रेतीली नदी बीच में आ जाय, धोरी बैल हिम्मत नहीं हारता। वह रास्ता पार कर ही लेता है। वह वहन किये भार

को बीच में नहीं छोड़ता। इसी प्रकार सुदृढ़ श्रद्धा वाला साधक अंगीकार की हुई साधना को पार लगा कर ही दम लेता है।

भाइयो ! यहाँ कायरों का काम नहीं, शूरवीरों की आवश्यकता है। शूरवीर पुरुष अपने अटल एवं अविचल संकल्प से अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करते हैं। ऐसे महापुरुष केवलज्ञान नहीं पाएँगे तो कौन पाएगा ?

श्रद्धावान् पुरुष अशंक भाव से काम करता जाता है। वह फल के लिए भी व्यग्र नहीं होता। वह जानता है कि कर्त्तव्य का फल अवश्यं भावी है। आज प्राप्त हो या कल, कभी भी फल मिले, लेकिन आखिर तो मिल कर ही रहेगा। जो लोग करनी करते ही फल देखना चाहते हैं, समझना चाहिए कि उनमें श्रद्धा की कमी है। सच्चा श्रद्धालु सोचता है-अभी पार नहीं लगा तो क्या हुआ ? फिर किसी जन्म में लग जाऊँगा। मैं तो अपना रास्ता काटने को उठा हूँ।

सुबाहु कुमार पन्द्रह भव करके मोक्ष में गये। कोई एक ही भव में मोक्ष पा लेते हैं।

इस प्रकार श्रद्धा ही साधना का प्राण है। श्रद्धा ही से आत्मा का कल्याण होता है। श्रद्धा साधना के पथ पर दृढ़ रहने और आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है। अतएव भगवान् ने फर्माया है कि श्रद्धावन्त साधु ही अकेला विचरण कर सकता है। श्रद्धावन्त स्वयं तिरता है और दूसरों को तारता है। इस प्रकार जान कर जो जीव श्रद्धा को धारण करेगा, वह आनन्द ही आनन्द का भागी होगा।

ब्यावर
२४-११-४७ }


समाप्तम्


मुद्रक
जैनोदय प्रेस, रतलाम.
(मध्य-प्रदेश)